ओ३म्

गुरुकुल-पत्रिका

मई - जून - जौलाई 2005

सम्पादक

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग
अध्यक्ष, प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार २४९४०४

रजि0 पंजीकरण सं0 : एल-1277

ओ३म्

गुरुकुल पत्रिका

मई-जून-जौलाई 2005

सम्पादक

डॉ. महावीर

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग

अध्यक्ष, प्राच्य विद्या संकाय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार-249404

सम्पादक मण्डल

मूल्य　　१०० रुपये वार्षिक

विक्रमी सम्वत्　　**२०६२**

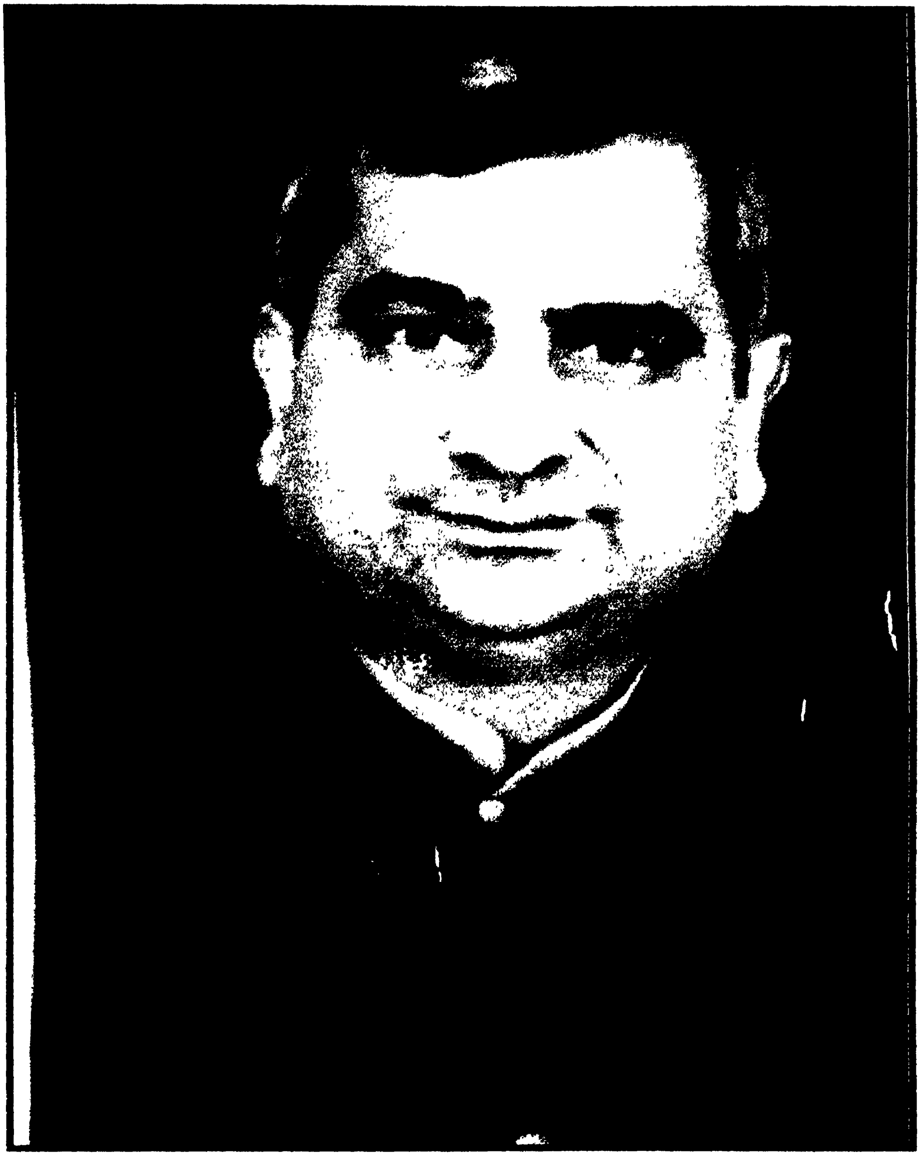
मुद्रक : किरण ऑफसैट प्रिंटिंग प्रेस, कनखल, हरिद्वार। फोन : 01334 - 245975

विषयानुक्रमणिका

The Founder of
Gurukula Kangri Vishwavidyalaya



Swami Shraddhanand Ji
(1856-1926)



विश्वविद्यालय के नवनियुक्त परिद्रष्टा पदम्श्री श्री देवेन्द्र त्रिगुणा



माननीय कुलपति प्रो0 स्वतन्त्र कुमार के दूसरे कार्यकाल प्राप्ति पर अभिनन्दन करते हुए उपकुलपति प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री



दूसरे कार्यकाल का कार्यारम्भ करने पर कुलपति जी का स्वागत करते हुए कुलसचिव प्रो0 ए0के0 चोपड़ा



राजकीय महाविद्यालय कृष्णनगर, हरियाणा के दीक्षान्त समारोह पर मुख्य अतिथि के रूप में वि0वि0 के उपकुलपति प्रो0 वेदप्रकाश शास्त्री, प्रो0 महावीर अग्रवाल एवं महाविद्यालय के प्राचार्य डॉ0 अशोक शर्मा जी



विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के यशस्वी चेयरमैन डॉ0 अरुण निगवेकर का अभिनन्दन करते हुए कुलपति प्रो0 स्वतन्त्र कुमार



विश्वविद्यालय के कुलाधिपति माननीय पं0 सुदर्शन शर्मा अपनी धर्मपत्नी एवं पूज्या माता श्रीमती राजरानी के साथ विश्वविद्यालय की पुण्यभूमि में यज्ञ करते हुए

वेदमञ्जरी
सोमः किं किं ददाति?

आचार्य रामनाथ वेदालङ्कारः

सोमो धेनुं सोमो अर्वन्तमाशुं सोमो वीरं कर्मण्यं ददाति।
सादन्यं विदथ्यं सभेयं पितृश्रवणं यो ददाशदस्मै॥

ऋग् 1.91.20

ऋषिः गोतमः राहूगणः। **देवता** सोमः। **छन्दः** त्रिष्टुप्।

(सोमः) जगदीश्वरः (धेनुं) गां वाचं च, ददाति प्रयच्छति। (सोमः) जगदीश्वरः (आशुं) वेगवन्तम् (अर्वन्तं) अश्वं प्राणं च, ददाति प्रयच्छति। (सोमः) जगदीश्वरः (कर्मण्यं) कर्मतत्परं, (सादन्यं) ब्रह्मचर्यगृहस्थाद्याश्रमचतुष्टय निर्वाहकं, (विदथ्यं) यज्ञकुशलं युद्धकुशलं च, (सभेयं) सभ्यं, (पितृश्रवणं) पितृकुलस्य कीर्तिविस्तारकं (वीरं) वीरपुत्रं च (ददाति) प्रयच्छति। कस्मै? (यः) यः पूजकः (अस्मै) सोमाय जगदीश्वराय (ददाशत्) आत्मसमर्पणं करोति।

जगदीश्वरस्य सोमस्य समीपे अपरिमितैश्वर्याणां निधि वर्तते। असौ आध्यात्मिकैश्वर्याणामपि स्वामी विद्यते, आधिभौतिकैश्वर्याणां चापि कुबेरः। तेषामैश्वर्याणां स मुक्तहस्ताभ्यां सत्पात्रेषु दानं करोति। परं तदैश्वर्याणां प्राप्तेः कश्चिद् अधिकारी स्यात्, तदर्थं पूर्वं तेन स्वयमपि दानं कर्तुमावश्यकं भवति। एतद् दानमस्ति आत्मदानं, सर्वात्मना आत्मसमर्पणं वा। यः सोमाय जगदीश्वराय आत्मसमर्पणं विदधाति तेन स्वकीयोत्कर्षचिन्ता स्वयं न कुर्तमावश्यकी जायते। सोमो जगदीश्वरः स्वयं तदीय-योगक्षेमयोः उत्तरदायित्वं निर्वहति। आत्मसमर्पणस्तु प्रभुप्रेरणानुसारं कर्ममात्रं करोति, फलस्य चिन्तां स प्रभोरुपरि निक्षिपति। आत्मसमर्पकस्य लक्षणमिदं यत् फलप्राप्तिर्भवेन्न वा भवेत्, सद्यो भवेद् विलम्बेन वा भवेत्, स उद्विग्नो न जायते। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते, फले च प्रभोरधिकारः' इति तस्य भावना संपद्यते। परं सोमो जगदीश्वरः स्वोत्तरदायित्वस्य निर्वहणं पूर्णतः करोति। असौ स्वपूजकम् अपारैश्वर्यस्य स्वामिनं विदधाति।

असौ तस्मै 'धेनुं' ददाति। धेनु शब्देन दोग्ध्री गौरपि गृह्यते, दोग्ध्री वाक् चापि। वाक्शक्तिः सत्यमेव कामधेनुर्विद्यते। व्यक्तवाक्त्वं मनुष्यस्यैव वैशिष्टयं, यदन्येषु प्राणिषु नास्ति। वागेव शिष्यं निखिलज्ञानविज्ञानपूर्णं करोति। छान्दोग्योपनिषदि महर्षिः सनत्कुमारो ब्रवीति- "वाग् वाव ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदं सामवेदमायर्वणं चतुर्थ-मितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां छत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्याम्"। "यद् वै वाङ् नाम विष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयो

नाहृदयज्ञो वागेवैतत् सर्वं विज्ञाययति" इति।

जगदीश्वरः सोमः स्वभक्ताय वेगवन्तम् अश्वं प्रयच्छति। अश्वः किल समस्तजीवनोपयोगिसानानां प्राणबलस्य च प्रतीकम्। जगदीश्वरः सोमः स्वात्मसमर्पकाय भक्ताय तादृशं वीरपुत्रं प्रयच्छति यो भाग्यवादी न प्रत्युत कर्मण्यो भवति, ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासानां चतुर्णामपि सदनानां निर्वाहको जायते, यज्ञकुशलः, आभ्यन्तरबाह्यसंग्राम विजेता, सभासंसदां सदस्यः, पितृकुलकीर्तिकरश्छ भवति। कामं स एकः स्यात्, परं स्वकीयैर्गुणैः तारागणेषु चन्द्रवत् दीप्यते। आगच्छत, वयमपि सोमं जगदीश्वरं प्रति आत्मसमर्पणं कृत्वा विविधान्यैश्वर्याणि प्राप्नुयाम।

सम्पादकीय

कालचक्र सतत गतिमान रहता है। वह कभी रुकता नहीं, समय का अश्व द्रुतगति से दौड़ता रहता है, बुद्धिमान् और दूरदर्शी जन उस अश्व पर आरोहण कर पाते है। इस सन्दर्भ में वेद का निम्न मन्त्र चिन्तनयोग्य है-

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।

तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥.

अथर्व. १९/५३/१

अर्थात्- सात रस्सियों वाला, हजारों धुरों को चलाने वाला, कभी भी जीर्ण न होनेवाला, महाबली समयरूपी घोड़ा चल रहा है- संसार रथ को खींच रहा है। सब भुवन उसके द्वारा चक्रवत् घूम रहे है। उस घोड़े पर ज्ञानी और क्रान्तदर्शी लोग ही सवार होते है। ये क्रान्तदर्शी महापुरुष इतिहास के पन्नों पर अपने कर्त्तव्य की अमिट छाप अङ्कित कर जाते हैं, या यूँ कहें कि वे स्वयं इतिहास बनाते हैं। ये समाज राष्ट्र और विश्व के लिए प्रकाशस्तम्भ बनकर आने वाली पीढ़ियों का युगों-युगों तक मार्ग-दर्शन करते रहते हैं। ऐसे युग पुरुषों की गरिमामयी परम्परा में महर्षि दयानन्द सरस्वती, अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द, पं0 गुरुदत्त विद्यार्थी, रक्तसाक्षी पं0 लेखराम, महात्मा हँसराज, आदि मानवता के पुजारियों का नाम स्वर्णाक्षरों में अंकित है। **स्वामी दयानन्द** ने 1875 में आर्य समाज की स्थापना कर संसार में व्याप्त अज्ञानान्धकार, पाखण्ड एवं अन्धविश्वासों को दूर कर उत्तम समाज निर्माण का मार्ग दिखाया, वेद भाष्य कर वैदिक ज्ञानालोक से प्रत्येक मानव के अन्तःकरण को आलोकित करने का महान् कार्य किया। सत्यार्थप्रकाश की रचना कर नीरक्षीर विवेकी दृष्टि प्रदान की। स्वराज्य, स्वभाषा और स्वसंस्कृति का उद्घोष कर श्यामजी कृष्ण वर्मा, महात्मा गोखले, लाला लाजपतराय, अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल सदृश असंख्य वीरों को भारत माता की परतन्त्रता की बेड़ियों को काटकर स्वातन्त्र्य प्राप्त करने के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा करने की प्रेरणा दी। नारीजाति के लिए वेदाध्ययन एवं शिक्षा का द्वार खोलकर **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्तें तत्र देवताः'** का प्राचीन उद्घोष साकार कर दिखाया।

महर्षि के शिष्य **स्वामी श्रद्धानन्द** ने गंगा के पावनतट पर कांगड़ी ग्राम के समीप 4 मार्च 1902 में गुरुकुल की स्थापना कर गुरु-शिष्य के पवित्रतम सम्बन्धों और चरित्र तथा श्रम की सुदृढ़ आधार शिला पर स्थित प्राचीन गुरुकुलीय शिक्षा पद्धति का पुनरुद्धार कर शिक्षा क्षेत्र में अद्भुत क्रान्ति की थी। यह ऐसी क्रान्ति थी कि इसका प्रभाव सम्पूर्ण राष्ट्र के शैक्षिक, सामाजिक वातावरण में परिलक्षित होने लगा। गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. के प्रथम कुलपति स्वामी श्रद्धानन्द एवं अन्य आचार्यों ने उच्चतम आदर्शों एवं जीवनमूल्यों की जो परम्परा स्थापित की उसने देश की

चिन्तन-धारा को व्यापक रूप में प्रभावित किया। देशवासियों के अन्तःकरणों में स्वाभिमान एवं आत्मगौरव की उदात्त भावना जागृत हुई। सौ वर्षों की यात्रा में गुरुकुल कांगड़ी ने नया इतिहास बनाया। अनेक स्वनामधन्य महापुरुषों ने कुल-माता का गौरव बढ़ाने के लिए अपना सर्वस्व स्वाहा कर दिया। इस ऐतिहासिक विश्वप्रसिद्ध शिक्षा संस्थान ने अनेक उतार चढ़ाव भी देखें किन्तु प्रत्येक परिस्थिति में स्वामी श्रद्धानन्द के तप ने इसकी रक्षा की। वर्तमान में गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. के सर्वोच्च कुलाधिपति पद पर आर्यजगत् के भामाशाह, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के पूर्व प्रधान गुरुकुल कांगड़ी वि.वि. के पूर्व कुलाधिपति परमश्रद्धेय स्व. पं0 हरबंसलाल जी के सुयोग्य पुत्र **पं० सुदर्शन शर्मा जी 'अनुव्रतः पितुः पुत्रः मात्रा भवतु सम्मनाः'** की उक्ति को चरितार्थ करते हुए प्रतिष्ठित है। परिद्रष्टा के गरिमामय पद को अप्रैल 2005 में विभूषित किया है **पद्म श्री देवेन्द्र त्रिगुणाजी** ने जो भारत की अनेक संस्थाओं के संरक्षक, मार्गदर्शक एवं प्रेरणास्रोत है। आयुर्वेद के मूर्धन्य विद्वान् हैं, सद्गुणों के निधान है।

गुरुकुल कांगड़ी वि. वि. के कुलपति **प्रो० स्वतन्त्रकुमार जी** 3 वर्ष का एक कार्यकाल पूर्ण करके पुनः माननीय परिद्रष्टा जी द्वारा तीन वर्ष की सेवा के लिए प्रतिष्ठित किये गए है। प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ और देवयज्ञ से अपनी दिनचर्या प्रारम्भ करने वाले सहज, सरल, निरहंकार और दृढ़ संकल्प शील कुलपति जी के सुयोग्य मार्ग दर्शन में इस शिक्षण संस्था ने बहुत प्रगति की है। कुलवासियों को पूर्ण विश्वास है कि दूसरे कार्यकाल में प्रो0 स्वतन्त्र कुमार जी कुछ ऐसे अनुकरणीय श्रेष्ठ कार्य करेंगे जिससे विश्वविद्यालय सफलता के उच्च कीर्तिमान् स्थापित करेगा।

'आचार्य आचारं ग्राहयति' की उदात्त संकल्पना को साकार करने वाले संस्कृत साहित्य के मर्मज विज्ञान आचार्य **प्रो० वेदप्रकाश जी** वेद एवं यज्ञ की ज्योति निरन्तर प्रज्वलित कर रहे हैं।

विद्वान् प्राध्यापकों, कर्मचारियों एवं छात्रों के सहयोग से स्वामी श्रद्धानन्द की यह पवित्र शिक्षण संस्था निरन्तर प्रगति कर रही है।

आइये! हम सब भी कुलमाता की सेवा में अपनी विनम्र भावाञ्जलि श्रद्धापूर्वक अर्पित करें।

डॉ० महावीर

वेदों में विज्ञान के कुछ अद्भुत कारनामें

डॉ० रामनाथ वेदालंकार

विज्ञान मनुष्य के लिए एक स्वाभाविक आवश्यकता है। हम संघर्षण द्वारा अग्नि अत्पन्न करते हैं, कोयले पर रोटी को फुलाते हैं, बारूद से पर्वत खण्डों को तोड़ते हैं, नल द्वारा पानी को ऊँचाई पर ले जाते हैं, कूप से पानी खींचने के लिए चरखी का उपयोग करते हैं, सिंचाई के लिए ढेंकली लगाते हैं, शीत में ऊनी वस्त्र पहनते हैं, पर्वत पर चढ़ते समय शरीर को झुका लेते हैं, इत्यादि हमारी छोटी-छोटी क्रियाओं में भी विज्ञान के नियम काम करते हैं, भले ही हमारा उनकी ओर ध्यान न जाता हो। मनुष्य विज्ञान के बिना पंगु है। विज्ञान द्वारा ही वह हिंस्र जन्तुओं तथा शत्रुओं से रक्षार्थ शस्त्रास्त्रों का निर्माण करता है, शीघ्रता से स्थानान्तर पर पहुँचने के लिए यानों को रचता है, रुग्ण होने पर स्वास्थ्य-लाभ के उपायों का आविष्कार करता है, विविध विद्याओं की उन्नति के लिए यंत्र बनाता है, उपयोगी वस्तुओं को उत्पन्न करने के लिए कारखाने निर्मित करता है। वेदों में जिस प्रकार धार्मिक राजनीतिक आदि क्षेत्रों में उन्नति करने के लिए प्रेरणाएं दी गयी है, उसी प्राकर वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगति के लिए भी वेद हमें प्रेरित करते हैं, यद्यपि इतना अवश्य है कि वेद की दृष्टि में विज्ञान का उपयोग जनकल्याण के लिए होना चाहिए। यहाँ हम वेदों में उल्लिखित कुछ वैज्ञानिक बातों की चर्चा करेंगे।

व्योमयान:- वेदों में व्योमयान से आकाश में उड़ने का उल्लेख कई स्थानों पर हुआ है। ऋग्वेद में एक ऐसे रथ का वर्णन किया गया है, जिसमें न घोड़ा है, न लगाम है, जो तीन पहियों से चलता है तथा आकाश में भ्रमण करता है-

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो
रथस्त्रिचक्रः परिवर्तते रजः। **ऋग्० ४/३६/१**

एक अन्य स्थान पर सैनिकों को प्रेरणा की गई है कि तुम ऐसे व्योमयानों पर स्थित होकर पक्षियों के समान उड़ो, जो विद्युत् से चलते हों, जिनके विशाल पंख हों तथा जिनमें शस्त्रास्त्र एवं आवश्यक खाद्य-सामग्री निहित हो-

आ विद्यु न्मदि्भर्मरुतः स्वर्कै
रथेभियात ऋष्टिमदि्भ्ररश्वपर्णैः।
आ वर्षिष्ठया न इषा-
क्यो न पप्तता सुमायाः॥ **ऋग्० १/८८/१**

ऋग्वेद के दशम मण्डल में कपोत नामक एक व्योमयान का वर्णन है, जैसे आज कल व्यामयानों के नाम राजहंस आदि रख लिए जाते हैं। दूसरे देश का दूत होकर एक कपोत किसी अन्य देश में पहुँचा है। उस देश के वासी उसका स्वागत करते हुए कहते हैं कि दूसरी भूमि का दूत जो यह कपोत हमसे कुछ चाहता हुआ हमारी भूमि में आया है, उसका हम सत्कार करते हैं-

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्
दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्या अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं
शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे।। ऋग् १०/१६५/१

यह ठी वैसा ही प्रसंग है, जैसे हमारे पड़ौसी देश पाकिस्तान का कोई यान (यानारोही दल) किन्हीं समस्याओं पर वार्तालाप करने के लिए हमारे देश में आये। जैसे इस मंत्र में पक्षिविशेष कबूतर-वाची कपोत शब्द विमान के लिए प्रयुक्त किया है, वैसे ही अन्यत्र पक्षिसामान्य-वाची 'वि' शब्द आता है।

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्।
वेद नावः समुद्रियः।। ऋग्० १/२५/७

यहाँ वरुण की स्तुति में कहा गया है कि वह आकाश में उड़ने वाले विमानों तथा समुद्र में चलने वाली नौकाओं को जानता है। नौकाओं की तुलना में पक्षिवाची 'वि' शब्द का विमान अर्थ करने में ही अधिक औचित्य है।

जलयान- जलयान के प्रयोग का उपदेश देने के लिए वेद में 'अश्विनौ' द्वारा व्यापारी भुज्यु को समुद्र पार ले जाने का एक काल्पनिक कथानक मिलता है। तुग्र-एक राजा है, वह-अपने देश के व्यापारी भुज्यु तथा उसके साथियों को जलपोतों द्वारा देशान्तर में भेजता है। पोतचालक अश्वी निरन्तर तीन दिनरात जलयात्रा कराते हुए उन्हें सुरक्षित पार पहुँचा देते हैं-

तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहाः।
तमूहथुनौभिरात्मन्वतीभिः अन्तरक्षिप्रुद्भिरपोदकाभिः।।
तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिब्रजद्भि र्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्र स्य पारे त्रिभी रथैः शतपदिभः षडश्वैः।। ऋग्० १/११६/३/४

यहाँ नौकाओं या जलपोतों की विशेषता बताने वाले उनके कुछ विशेषण प्रयुक्त हैं। 'अन्तरिक्षप्रुद्' से सूचित होता है कि वे जलपोत बिना डूबे पानी के ऊपर-ऊपर चलते है। 'अपोदक' से आशय है कि उन पर पानी का प्रभाव नहीं होता, अर्थात् वे 'वाटरप्रूफ' हैं। वे पतंग हैं, अर्थात् वेग के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि वे पानी के ऊपर बड़े चले जा रहे हैं। वे शतपद्

भी हैं, क्योंकि उनमें चलाने-रोकने आदि के लिए अनेक कलें लगी हुई है। छः इंजनों वाले होने के कारण वे षडश्व है। इस प्रसंग में आये तुग्र, भुज्यु एवं अश्विनी शब्द भी यौगिक है। राजा के अर्थ में आया तुम शब्द 'तुकि **हिंसाबलादाननिकेतनेषु**' धातु से औणादिक रक् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। इससे राजा का शत्रुहिंसक, बसी, संग्रहशील अनि होना सूचित होता है। 'भुज्यु' का अर्थ है भोग्य पदार्थों की इच्छा करने वाला, यहां इच्छा अर्थ में क्यच् प्रत्यय हुआ है। अश्विनी का अर्थ है अश्वों वाले या गति वाले अर्थात् चालक।

एक अन्य मंत्र में ऐसे यान का उल्लेख है जो पनडुब्बी की तरह समुद्र के अन्दर भी चल सकता है, तथा आवश्यकतानुसार पक्षी के समान आकाश में भी उड़ सकता है। इसे भी अश्विनी ने तुग्र के पुत्र भुज्यु के उपयोगी के लिए रच है-

युवमेतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवम्
आत्मन्वन्तं पक्षिणं तौऽग्र्या कम्।। **ऋग् १/१८२/५**

जल के घटक तत्व- आधुनिक विज्ञानवेत्ता प्रयोगशाला में परीक्षण करके दिखाते हैं कि जलघटक तत्त्व ओक्सिजन तथा हाइड्रोजन नामक दो गैसें हैं। उनमें विद्युद्धारा प्रवाहित करने से जल उत्पन्न हो जाता है, तथा विद्युत् द्वारा जल को फाड़ने पर वह उक्त गैसों में विभक्त हो जाता है। यह रहस्य निम्न वेदमंत्र में वर्णित है-

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता।। **ऋग् १/२/७**

इसमें उक्त दो गैसों को क्रमशः मित्र तथा वरुण नाम दिया गया है। जल के लिए घृत शब्द प्रयुक्त हुआ है- **घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चति कर्मणः, निरुक्त ७/२४।** अथर्ववेद में एक स्थान पर वर्षा को मित्र और वरुण से मिलकर बना हुआ कहा गया है- **न वर्षः मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति, अथर्व ५/१९/१५।** ऋग्वेद के एक मन्त्र में वसिष्ठ को मित्र एवं वरुण से उत्पन्न तथा उर्वशी के मन से अधिजात कहा है। यहाँ भी वसिष्ठ से वर्षा की बूँद से वर्षा की अभिप्रेत है, और मित्र-वरुण उक्त दो वायुएं तथा उर्वशी विद्युत् है-

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ
उर्वश्या ब्रह्मन् मनसाऽधिजातः।। **ऋग् ७/३३/११**

वर्षा कराना- कभी-कभी वर्षा की महती आवश्यकता होने पर भी वर्षा नहीं होती, या तो बादल आ-आकर चले जाते हैं, या आते ही नहीं। ऐसी अवस्था में वर्षा कराने के उपायों का आविष्कार करने में वर्तमान विज्ञान संलग्न है। वैज्ञानिक ऐसे परीक्षण कर रहे है कि विमान द्वार ऊपर पहुँचकर आकाश में कुछ पदार्थ छिड़कने से बादलों को बरसाया जा सके। अभी यह कार्य असंभव तो नहीं, किन्तु अतिव्ययसाव्य समझा जा रहा है। परन्तु वेद में मन्त्र द्वारा कृत्रिमरूप से वर्षा कराने का स्पष्ट

उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद के दृष्टिकाम सूक्त में देवापि आष्टिषेणा यज्ञ के वैज्ञानिक प्रयोग द्वारा उत्तर समुद्र (आकाश) से अधर समुद्र की ओर जल बरसाने में सफल होता है-

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्-
देवापि देवसुमति चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमयो दिव्या
असृजद् वर्ष्या अभि॥ ऋग् १०/९८/५

अगले मन्त्र में स्पष्ट कहा है कि आकाश में जल देवों द्वारा रुके हुए स्थित हैं, अर्थात् ऐसी परिस्थिति है कि बादल छाये हुए हैं, किन्तु वृष्टि नहीं होती, तब देवादि अपनी कला से उन्हें बरसा देता है। इस सूक्त के अन्तिम मन्त्र में अग्नि को सम्बोधन कर प्रचुर जलों को बरसा दो। आज भले ही इस विज्ञान से हम पूर्णात: परिचित न हों, पर वेद से प्रेरणा लेकर हम इस दिशा में प्रगति कर प्रकृति पर विजय पा सकते हैं:

कृत्रिम टांग लगाना-रणभूमि में रात्रि में युद्ध करते-करते खेल योद्धा की पत्नी विश्पला की टांग कट कर गिर पड़ती है, जैसे पक्षी का पंख टूट कर गिर जाता है। खेल है ऐसा वीर जो संग्राम को क्रीड़ा समझता है। विश्पला का अर्थ है प्रजा का पालन करने में समर्थ वीरांगना। अश्विनी नामक चिकित्सा उसकी टूटी टांग के स्थान पर नई आयसी जंघा लगा देते हैं, जिससे वह आसानी से चल-फिर सकती है-

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा लेखस्य परितक्म्यायाम्।
सद्यो जङ्घामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्यधत्तम्॥ ऋग् १/११६/१६

वृद्ध को तरुण बनाना- आजकल कुछ वैज्ञानिक ऐसी औषधि के आविष्कार में लगे हैं, जिससे वृद्ध को तरुण बनाना जा सके। वेद में इस विद्या का भी वर्णन मिलता है। अश्वी वैद्य एक जीर्ण शरीर वाले च्यवान को अपनी संजीवनी क्रियाओं से पुन:युंवा कर देते है-

युवं च्यवानमश्विना जरन्तं
पुनर्युवानं चक्रथुः शचीभिः॥ ऋग् १/११७/१३

ऋभुओं के सम्बन्ध में भी वेद ऐसी ही चर्चा करता है। वे वृद्ध माता-पिता को पुन: युवा: बना देते है।

पुरुष सन्तान उत्पन्न करना- जिन स्त्रियों के कन्याएं ही उत्पन्न हैं, उनके लिए पुत्रोत्पत्ति का वेद में यह उपाय बताया गया है कि शमी-वृक्ष के ऊपर उगे हुए अश्वत्थ (पीपल) का वे सेवन करें। अब यह सेवन किस प्रकार, किस रूप में, किस समय किया जाये इसका अनुसन्धान करना भिषगाचार्यों का कार्य है।

शमीमश्वत्थ आरूढ़स्तत्र पुंसवनं कृतम्।

तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वाभरामसि॥ अथर्व ६/११/१

बूढ़ी वन्ध्या गाय को दुधारू करना- चिकित्सक 'अश्चिनै-युगल' शयु ऋषि की बूढ़ी गाय को, जिसने दूध देना बन्द कर दिया है, फिर से दुधारू बना देते हैं-

अधेनुं: दस्रा स्तर्यं विषक्ताम्।

अपिन्वतं शयवे अश्विना गाम्॥ ऋ० १/११७/२०

ऋगु देवों में भी यह कौशल है कि वे चर्मविशेष गाय को हृदयपुत्र गाय में परिणत करके उसे बछड़े से संयुक्त कर देते हैं-

निश्चर्मण ऋमवो गामपिंशत

सं वत्सेनासृजता मातरं पुनः॥ ऋ० १/११०/८

सौर ऊर्जा से यान एवं यन्त्र चलाना- सौर ऊर्जा द्वारा विमानदि रथों एवं यन्त्रकलाओं को चलाये जाने का वर्णन भी वेदों में अनेक स्थलों में आता है, जिसमें पर्यावरण प्रदूषण की वर्तमान समस्या का समाधान निहित है।

अस्माकमूर्जा रथं पूष्टु अविषु माहिनः।

भुवद् वाजानां वृध इमं नः शृणवद्धवम्॥ ऋ० १०/२६/९

अपनी सक्षक्ता ऊर्जा द्वारा महस् पूषा सूर्य हमारे रथादि यानों में प्रवेश करे। वह बल-वेशों का बढ़ाने वाला हो और ध्वनियन्त्र में प्रयुक्त होकर हमारे बोले गये शब्दों को सुनाने वाला भी हो (शृणवद् श्रावयद्, लुप्रणिच्क प्रयोग)।

युजानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति। ऋ० ६/४७/

त्वष्टा सूर्य अपनी किरणों से उत्पन्न विद्युतो को भूतान, जलयान एवं विमानों युक्त करता हुआ भूरि-भूरि चमक रहा है या यशस्वी हो रहा है।

इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप ईयते

युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥ ऋ० ६/४७/

अनेक रुपों वाला सूर्य अपनी ऊर्जाओं के साथ गति कर रहा है। इसकी हजार किरणें यन्त्रकलाओं में तथा विमानादि यानों में युक्त होती हैं।

मनुष्य के धड़ पर घोड़े के सिर का प्रत्यारोपण

ऋग्वेद प्रदम मण्डल के 116 वे सूक्त के एक मंत्र पर सायणाचार्य ने पूर्वप्रचलित एक आदव्यादिका दी है। इन्दु ने दध्यङ् ऋषि को प्रवर्ग्यविद्या और मधुविद्या का उपदेश देकर यह चेतावनी दी कि यदि तुम यह विद्या किसी अन्य को बताओगे तो तुम्हारा सिर काट दूंगा। अश्रिचन् देव दध्यङ् से वह विद्या सीखना चाहते थे। वे उत्कृष्ट कोटि के शल्यचिकित्सक थे। अत: उन्होंने दध्यङ् ऋषि का असली सिर काट कर अलग सुरक्षित रख दिया और उसके बदले घोड़े का सिर लगा दिया। उसी घोड़े के सिर से दध्यङ् ने अश्रिवनों को वह विद्या बता दी। तब इन्द्र ने अपनी शर्त के अनुसार दध्यङ् का घोड़े वाला सिर काट दिया। अश्विनों ने दध्यङ् की ग्रीवा पर पुन: उसका असली सिर शलयकिया द्वारा प्रत्योरोपित कर दिया। कथा की विरूरत व्याख्या करने का यहाँ अवकाश नहीं है। ऋग्वेद् में वर्णित शल्यक्रिया द्वारा प्रत्योरोपित कर दिया। कथा की विरूरत व्याख्या करने का यहां अवकाश नहीं है। ऋग्वेद् में वर्णित शल्यक्रियाविज्ञान कितना अभत है, यहीं दिखाना यहां प्रयोजन है। मन्त्र में भी देखिए-

तद्वां नरा सनये दंस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम्॥

दध्यङ्ह यन्मध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्र यदी मुवाच॥ ऋ०१/११६/१२

अर्थात् हे शल्यक्रिया के विशेषज्ञ नेता अश्रिवनो, मैं तुम्हारी एक करामात को प्रकट करने लगा है, जैसे बिजली दृष्टि को प्रकट करती है। वह करामात यह है कि तुमने आथर्वण दध्यङ् ऋषि के कन्धों पर घोड़े का सिर लगा दिया था, जिसे सिर से उसने तुम्हें मधु विद्या कही थी।

तीन टुकड़ों में खण्डित शरीर को पुन: जोड़ना

ऋषि पूर्ण स्वस्थ है, खूब चलता-फिरता, दौड़ता-भागता है (श्यैङ् गतौ)। प्रभु उसके शरीर के तीन टुकड़े कर देते है। राजकीय शल्यचिकित्सक (दैव्यौ भिषजौ) अश्रिव-युगल तीन टुकड़ो में विभज्य उसके शरीर को सीकर पुन: चलने-फिरने योग्य बना देते हैं।

त्रिधा ह श्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयतं सुदानू। ऋ०१/११७/२४

आग-भरे बम के गोले

स्वयं युद्ध की विभीषिका उत्पन्न करने के लिए नहीं, किन्तु शत्रु यदि युद्ध पर उतारू होता है तो शान्ति-रक्षार्थ वेद भारक शस्भास्भ बनाने की प्रेरणा करता है।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्परि

अग्नितदोभि र्युवमश्महन्यभि:॥ ऋ० ७/१०४/५

इन्द्र और सोम को संबोधन किया गया है। इन्द्र है वीर और सोम है शान्ति का उपासक। ''है इन्द्र और सोम, तुम आगभरे बम के गोलों द्वारा आकाश से प्रहार करों॥'' यहां बम के गोले के लिए 'अश्महनमम्' का प्रयोग है और उसका विशेषण है 'अग्नितहा' अर्थात् आग से तथा हुआ

या जिसमें अग्नि‍ताय की विस्फोटक सामग्री का वर्णन है, जो आकाश से, पृथिवी से और पर्वतों से घोड़े जा सकते हैं।

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं, सं पृथिव्या अधशंसाय तर्हणम्।

उत् तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो, येन रक्षो वाश्धानं विनूर्वथं निनूर्वथः।।ऋ० ७/१०४/४

अर्थात् हे इन्द्र और सोम तुम आकाश से वध करने वाला बम घोड़ो, पापप्रशंसक शभु पर पृथिवी से पृथिवी पर मार करने वाली मिसाइलें छोड़ो, पर्वतों से शब्दकाशी और तापकारी गोले बरसाओ, जिनसे तुम बढ़ते हुए राक्षस को बिष्ट कर सकते हो।

वेदों में अन्था आग्नेशास्त्र वायव्यास्त्र, पर्जन्यास्थ आदि का भी वर्णन मिलता है। ऋग्वेद में एक स्थल पर वैज्ञानिक कारीगर से बनाये हुए बिजली से चलने वाले लोहे के बम (आयस अश्मा) की चर्चा भी आती है-

त्वमायसं प्रति वर्तयो गो

र्दिवो अश्गानमुपनीतमृभ्वा। ऋ० १/१२१/९

इस प्रकार वेदों में प्रतिपादित कुछ वैज्ञानिक विषयों की चर्चा इस संक्षिप्त लेख में की गई है। अन्य भी अनेक विज्ञान-सम्बन्धी बातों का मूलरूप से वर्णन वेदों में उपलब्ध होता है। उनसे प्रेरणा पाकर हम इस दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।

एक शंका यह की जाती है कि यदि वेद में व्योमयान आदि के निर्माण की विधि नहीं लिखी तो वेदों के ये वर्णन हमारे लिए निरर्थक हैं, हम इनका क्या करें। परन्तु वेद तो वस्तुतः प्रेरणा के स्रोत हैं। हमें क्या-क्या करना चाहिए किस-किस दिशा में प्रगति करनी चाहिए यह प्रेरणा वेद से प्राप्त होती है, उसे हम किस प्रकार करें यह हमें अपनी बुद्धि से समझना है। आज भी जिन्होंने वैज्ञानिक वस्तुओं का आविष्कार किया है, वह क्या कहीं अक्षरशः लिखा हुआ पढ़ कर किया है? जैसे उन्होंने किया वैसे हम भी कर सकते हैं, प्रेरणा हम वेद से ले सकते हैं।

"जब यम व्रत से महाव्रत बन जाते हैं"

प्रो० रामप्रसाद वेदालङ्कार
भूतपूर्व आचार्य एवं उपकुलपति
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ योग0 2.30

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, ये पांच यम हैं। यम ये इसलिए कहलाते हैं कि ये साधक को जीवन में ऊंचा उठने के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार आदि से उपरत करते हैं, रोकते हैं, पृथक् करते हैं, हटाते हैं। अब क्रमशः इन का वर्णन किया जाता है-

अहिंसा[१]

सब प्रकार से, सब समयों में, सब प्राणियों के साथ, मन से भी द्रोह छोड़कर, वैर त्याग कर प्रीतिपूर्वक वर्तना अहिंसा कहलाती है। इस अहिंसा से अगले जो शेष सत्य, अस्तेय आदि यम और शौच-सन्तोष आदि नियम हैं वे सब अहिंसामूलक ही हैं, वे सब उस अहिंसा की सिद्धि के लिए ही प्रतिपादित किये जाते हैं, वे सब उस अहिंसा को निर्मल रूप प्रदान करने के लिए ही ग्रहण किये जाते हैं, जीवन में अपनाए जाते हैं। जैसे कि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है- "यह ब्राह्मण जैसे-जैसे बहुत से व्रतों ([२]सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय आदि नियमों) को धारण करता जाता है, वैसे-वैसे वह प्रमाद से किये हुए हिंसा आदि के कारण रूप लोभ, क्रोध और मोह आदि रूप पापों से निवृत्त होता हुआ, पृथक् होता हुआ, बचता हुआ उसी विशुद्धरूप, निर्मलरूप, स्वच्छरूप अहिंसा का पालन करता है।

सत्य

यमों में यह दूसरा यम है। सत्य जो मनुष्य के मन में है, वही वाणी में हो। मनुष्य ने जैसे देखा हो, जैसा सुना हो, अर्थात् जैसा चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से साक्षात् किया हो, अनुभव किया हो, जैसा अनुमान किया हो, वैसा ही वाणी से बोले और मन में धारण करें। दूसरे मनुष्य में जब वह अपना ज्ञान-बोध संक्रान्त करे, दूसरे मनुष्य में जब वह अपने ज्ञान को पहुँचाए तो उस समय जो वाणी वह बोले उस में किसी भी प्रकार का छल, कपट वा [१]धोखाधड़ी नहीं होनी चाहिए, उस में कोई भ्रम, भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली बात नहीं होनी चाहिए, उद्देश्य से उल्टी वा निरर्थक बात नहीं होनी चाहिए। वह वाणी जो बोली जाए वह सब प्राणियों के उपकार के लिए ही प्रवृत्त होनी चाहिए, प्राणियों के उपघात के लिए नहीं, प्राणियों के हनन के लिए नहीं। यदि इस की कही हुई वाणी इन प्राणियों के उपघात के लिए, प्राणियों के विनाश के लिए हो तो फिर वह सत्य नहीं है, वह तो फिर पाप ही है। उस पुण्यरूप प्रतीत होने वाली पापरूप वाणी से तो मनुष्य बहुत बड़े कष्टों को ही प्राप्त होता है। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह अच्छी प्रकार से परीक्षा करके, अच्छी

प्रकार सोच-विचार करके सब प्राणियों का हित जिस से होता हो, सब प्राणियों का भला जिससे होता हो, ऐसा सत्य बोले। इस प्रकार का सर्वोपकारी, सर्वहितकारी सत्य ही वास्तव में अहिंसा के स्वरूप को निखार कर मनुष्य को अहिंसक बना देता है। तभी कहा गया है कि सत्य, अस्तेय आदि यम और शौच-सन्तोष आदि नियम साधक की इसी अहिंसा को ही अवदात रूप प्रदान करने वाले हैं।

अस्तेय

स्तेय कहते हैं चोरी को, परस्वापहरण को, दूसरे के धनधान्य के अपहरण को। शास्त्रवर्जित रीति से बिना पूछे दूसरों के द्रव्यों को, पदार्थों को जो उठा लिया जाता है, अपने काम में लिया जाता है, उसे स्तेय कहते हैं, चोरी कहते हैं। ऐसे उस स्तेय का, ऐसी उस चोरी का जिस में अभाव हो उसे 'अस्तेय' कहते हैं। और यह अस्तेय यहां तक ही नहीं है कि हम शास्त्र की आज्ञा के अनुसार किसी दूसरे के धन-धान्य के अपहरण करने से अपने आप को बचा लेते हैं। व्यास जी लिखते हैं कि- "हम वास्तव में 'अस्तेय' के सच्चे पालन वाले तब कहला सकेंगे जब कि हम अपने आप को इतना ऊपर उठा लेगें कि हमारे हृदय में भी दूसरों के धन-धान्यों को, दूसरों की वस्तु, व्यक्ति वा स्थानों को स्पृहापूर्वक देखने, ललचाई दृष्टि से निहारने वा ललचाई दृष्टि से उपभोग करने की भावना ही नहीं रहेगी।

जो भी योगीजन इस 'अस्तेय' का पालन करते हैं उनका जीवन फिर एक ऐसी खुली पुस्तक बन जाता है कि फिर उसमें कोई दुराव-छिपाव नहीं रह पाता। हम सामान्य जन यदि कोई खाने की वस्तु बच्चे को अनुकूल नहीं होती, माफिक नहीं होती तो हम उस को फिर बच्चों से छिपा कर खाते हैं। ऐसे ही कोई एक वस्तु हम किसी एक को देना चाहते हैं और दूसरों को नहीं तो फिर जिस को देते हैं तो वह छिपा कर देते हैं, कोई खाद्य पदार्थ एक को खिलाना चाहते हैं दूसरों को नहीं तो फिर जिस को हम खिलाते हैं उसे छिपा कर खिलाते हैं। ऐसे ही हम किसी का हित, उपकार करना चाहते हैं और किसी के प्रति उदासीन रहना चाहते हैं तो भी जिनका हित-उपकार करते हैं वह गुप्त रूप से करते हैं। यह सब स्तय कर्म हम प्राय: सदा करते रहते हें। पर इस मार्ग का जो सच्चा अनुयायी है वह यह सब कुछ करने से हृदय से बचने का पूर्ण प्रयास करता है। क्योंकि वह इन सब छोटी-छोटी बातों में भी स्तेय, चोरी का अनुभव करता है।

इस प्रकार जो हृदय से इस 'अस्तेय' को अपना लेता है, उससे फिर किसी को कोई गिला शिकवा नहीं रहता, फिर किसी को कोई दु:ख, कष्ट वा हानि नहीं होती। इस प्रकार का 'अस्तेय' रूप यह यम 'अहिंसा' के रूप को ऐसा निखार देता है कि फिर वह साधक सब के लिए हार्दिक श्रद्धा और सम्मान का पात्र बनता है, अन्यथा घर-परिवार छोड़कर भी साधु-संन्यासी होकर भी, विरक्त आश्रमों में रह-रह कर भी कई इस स्तेय वृत्ति के कारण किसी के अत्यन्त अप्रिय

अश्रद्धास्पद बन जाते हैं, और फिर इन संसारी जनों के तुल्य वे भी उन सब के स्नेह वा घृणा के, मान और अपमान के, सत्कार और तिरस्कार के भाजन बन जाते हैं। अतः सच्चे साधक इस विषय में सदा सतर्क रहते हैं।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य कहते हैं उपस्थेन्द्रिय के संयम को, गुप्तेन्द्रिय के संयम को। शरीर में जो रज-वीर्य उत्पन्न हो, साधक को चाहिए, (योगिन वा) योगी को चाहिए कि वह जी-जान से उस की रक्षा करे। उस की रक्षा के लिए वह सतत अन्य इन्द्रियों पर भी अपना पूर्ण नियन्त्रण रखे। अर्थात् वह अपनी आंखों से सदा भद्र देखे, कानों से सदा भद्र सुने, पैरों से सदा भद्र स्थानों पर जाए, हाथों से सदा भद्र करे, वाणी से सदा भद्र बोले, रसना से सदा भद्र पदार्थों का सेवन करे, नासिका से सदा भद्र सूंघे, त्वचा से सदा भद्र स्पर्श करे, मन से सदा भद्र सोचे, बुद्धि से सदा भद्र विचारे। इस प्रकार जब कोई (साधिका वा) साधक (योगिन वा) योगी सदा अपनी चक्षु, श्रोत्र, रसना= (जिह्वा), त्वचा, हस्त-पाद, मन बुद्धि, चित्त आदि इन्द्रियों पर संयम रखेगा और अपना समय सदा स्वाध्याय, सत्संग, साधना और लोकोपकार में लगायेगा तो यह सब करते हुए धीरे-धीरे उसमें बड़ी पवित्र एवं ऊंची भावनाएं उत्पन्न होंगी, जो योगी को संसार के लिए निर्दोष बना देंगी।

इस के परिणाम स्वरूप फिर उस का संयम सहज हो जायेगा और उसके भीतर रहने वाले रज-वीर्य की रक्षा भी फिर सहज ही हो जायेगी। इस से उसकी अहिंसा में अत्यन्त निखार पैदा होगा और सब की उन में श्रद्धा बढ़ेगी, विश्वास बढ़ेगा। इसके विपरीत यदि कोई साधक-योगी हृदय से ब्रह्मचर्य का पालन न करे अर्थात् वह असंयमी रहे। खाने-पीने, सोने-जागने, हास-परिहास करने आदि में जो चञ्चल चित्त हो, अर्थात् इन के विषय में जो मर्यादाओं का अतिक्रमण करता हो तो वह फिर चाहे विद्वान् हो चाहे संन्यासी हो, घर-परिवार में रहता हो वा किसी आश्रम-मठ में वा किसी वन-आरण्य में रहता हो, उससे जहां वह स्वयम् अपने लक्ष्य से च्युत होगा, पतित होगा, वहां उसके व्यवहारों से दूसरों को भी कष्ट होगा, हानि होगी, दूसरों की आशाओं और विश्वासों पर भी पानी फिरेगा। अर्थात् दूसरों की हिंसा भी होगी। अतः साधक को चाहिए कि वह इस विषय में प्रभु साक्षी में सदा सर्तक रहे। ऐसा करने से वह जहां अपने लक्ष्य को सिद्ध कर सकेगा, वहां वह अपनी अहिंसा के स्वरूप को भी दिव्य बना कर सब के स्नेह, सम्मान और श्रद्धा का पात्र बना सकेगा। यही इस ब्रह्मचर्य रूप यम का लक्ष्य है।

अपरिग्रह

परिग्रह कहते हैं- चहुं ओर से संग्रह करने को और अपरिग्रह कहते हैं चहुं ओर से संग्रह न करने को। साधक विषयों के संग्रह करने अर्थात् धन सम्पत्ति को इकट्ठा करने, फिर उस की रक्षा करने अर्थात् उस को संभालने और फिर उस के नष्ट हो जाने, समाप्त हो जाने में तथा उस

के संग में, उपभोग में, सर्वत्र हिंसा रूप दोष को देखकर उन विषयों को स्वीकार नहीं करता, यही अपरिग्रह है। कम से कम जिस से उसकी जीवनयात्रा पूरी हो सके, उतने मात्र का ही स्वीकार करना, उस से अधिक का स्वीकार न करना, यही अपरिग्रह का अभिप्राय है। साधक जब इस अपरिग्रह रूप यम का दिल से पालन करता है तो इससे वह अपनी अहिंसा के स्वरूप को निखारता हुआ सब के प्रेम और श्रद्धा का पात्र बनता है।

इसके विपरीत यदि वह संसारी जनों के समान धन, वैभव को संग्रह करता रहता है तो उसके उस संग्रह से तब उस समाज में जो अव्यवस्था उत्पन्न होती है, जो एक व्यक्ति के धन-अन्न आदि के अधिक संग्रह से समाज में अभाव उत्पन्न होता है, उससे लोगों को दुःख, हानि और कष्ट पहुंचता है, जिससे कि उसकी अहिंसा मलिन हो जाती है, और अप्रत्यक्ष रूप में वह फिर हिंसक बन जाता है तथा समाज की दृष्टि में वह गिर जाता है। अतः साधक अपरिग्रह रूप यम का हृदय से पालन कर यथोचित साधनों को ही स्वीकार कर अपनी अहिंसा के स्वरूप को समुज्ज्वल करता हुआ सब की श्रद्धा का पात्र बनता है।

ये पांचों यम 'व्रत' कहाते हैं और जो भी साधक-योगी इन का जी-जान से पालन करता है, वह व्रती कहाता है, पर अगर इन ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि यमों का व्रतों का 'जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न होकर, अप्रतिबद्ध होकर अर्थात् इनकी सीमाओं के बन्धन से रहित होकर, इनकी सीमाओं से ऊपर उठकर जब चित्त की ("क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध) इन सब अवस्थाओं में पालन किया जाता है जो फिर ये ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि यम महाव्रत बन जाते हैं, और इनका पालन करने वाला साधक-योगी महाव्रती कहलाने लगता है।

अब यह जाति, देश, काल और समयावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिसके अनुसार किसी मनुष्य की अहिंसा किसी जातिविशेष, वर्गविशेष, देशविशेष, कालविशेष, समयविशेष, प्रयोजनविशेष की सीमाओं में बंधी हुई रहती है। जैसे एक मछियारा मछली पकड़ने वाला, मछली मार कर बेचता है वा खाता है तो उस व्यक्ति की मछलियों के मारने में तो हिंसा होती है, पर दूसरी भेड़, बकरी, सूअर, मुर्गी आदि जातियों के प्राणियों में अहिंसा ही रहती है। इसलिए यह जात्यवच्छिन्न अहिंसा हुई, जातिविशेष के जन्तुओं की सीमाओं में बंधी रहने वाली अहिंसा हुई। इसलिए यह अहिंसा तो है, व्रत तो है, और इस अहिंसा व्रत के पालन करने वाले का नाम व्रती भी है, परन्तु यह अहिंसा जात्यवच्छिन्न होने से, जातिविशेष के प्राणियों की सीमाओं में बंधी रहने से यह पूर्ण अहिंसा कभी नहीं कहला सकती, यह महाव्रत कभी नहीं कहला सकती। जिस दिन यह अहिंसा जात्यवच्छिन्न हो जायेगी, जाति विशेष के प्राणियों की सीमाओं को वर्गविशेष के प्रणियों की हद को लांघ कर सब के प्रति समान रूप से अपनाई जायेगी, अर्थात् जिस में किसी को भी,

किञ्चित् भी, कभी भी, कष्ट-हानि पहुंचाने की बात नहीं होगी, उस समय यह अहिंसा पूर्ण अहिंसा कहलायेगी, उस समय यह सार्वभौम, (आलमगीर) अहिंसा कहलायेगी, यह महाव्रत कहलायेगी, और इसका पालन करने वाला पूर्ण अहिंसक कहलायेगा, महाव्रती कहलायेगा।

इसी प्रकार देशावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिस में मनुष्य यह सोचता है कि "मैं किसी देशविशेष में किसी स्थानविशेष में अर्थात् मथुरा, वृन्दावन, काशी, हरिद्वार वा मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे, गिरजे आदि में हिंसा नहीं करुगाँ परन्तु अन्यत्र मैं अहिंसा का पालन नहीं करुगां अर्थात् अन्यत्र में हिंसा कर सकता हूँ।" ऐसा सोचने वाला अहिंसक तो है, परन्तु उस की अहिंसा देशविशेषों, स्थानविशेषों तक सीमित रहने से पूर्ण अहिंसा नहीं कहला सकती, और न ही वह महाव्रत कहला सकती है।

कालावच्छिन्न अहिंसा वह कहलाती है जो काल की सीमाओं में बंधी रहती है, जिस को अपनाने वाला व्यक्ति सोचता है कि- "मैं एकादशी, चतुर्दशी, पूर्णमासी वा मंगलवार आदि के दिन किसी की हिंसा नहीं करुंगा, अर्थात् इन दिनों में मैं अहिंसक रहूंगा, पर इन से भिन्न दिनों में मैं हिंसा कर सकता हूं, मैं मछली, मुर्गा आदि मार कर खा सकता हूँ।" ऐसे व्यक्ति की यह जो अहिंसा हुई यह पूर्णहिंसा नहीं हुई, सार्वकालिक अहिंसा नहीं हुई। अतः यह अहिंसा व्रत तो कहला सकती है, यह व्रत तो है पर महाव्रत नहीं। इसलिए काल की इन सीमाओं में बंधी हुई अहिंसा का पालन करने वाला व्रती तो कहला सकता है, पर वह महाव्रती कभी नहीं कहला सकता।

समयावच्छिन्न अहिंसा वह होती है कि जिस में मनुष्य यह कहता है कि- "मैं समय विशेष पर वा अवसर विशेष पर किसी प्रयोजन विशेष के लिए गौ-ब्राह्मण की रक्षा के लिए हिंसा करुंगा, अन्यत्र हिंसा नहीं करुंगा। अर्थात् देव-ब्राह्मणों, बाल-वृद्धों वा अनाथ-असहायों की रक्षा-सुरक्षा के निमित्त तो मैं आततायियों को मारुंगा, उन का वध करुंगा, यद्वा क्षत्रिय बनकर देश की रक्षा के निमित्त तो युद्ध में शत्रुओं का मैं हनन करुंगा, पर अन्यत्र नहीं। यह है मेरी समय, अवसरविशेष से की गई हिंसा। इस के अतिरिक्त तो मैं सर्वत्र अहिंसा का ही पालन करुंगा।" यह हुई समयावच्छिन्न-समय की सीमाओं में बंधी हुई अहिंसा। अतः यह पूर्ण अहिंसा नहीं हुई।

ऐसे लोगों की यह जो अहिंसा है, यह अहिंसा तो है, पर पूर्ण अहिंसा नहीं, सार्वभौम अहिंसा नहीं। व्रत तो है, पर महाव्रत नहीं। पूर्णहिंसा तो यह तब कहलायेगी, महाव्रत तो यह तब कहा जायेगा जबकि जातिविशेष, वर्गविशेष, प्राणीविशेष, प्रसंगविशेष, प्रयोजनविशेष, अवसरविशेष की सीमाओं से ऊपर उठकर सर्वदा, सर्वथा सब प्रणियों के प्रति ''चित्त की सभी अवस्थाओं में बिना हेर फेर के अर्थात् सहज रूप से इस का पालन किया जाएगा। अर्थात् जब कुछ भी, कहीं भी, कभी भी, किसी प्रयोजन के लिए किसी की भी हिंसा न हो जावेगी तो तब वह अहिंसा सार्वभौम अहिंसा कहलायेगी, महाव्रत कहलायेगी।

ऐसे ही जो किसी जातिविशेष अर्थात् वर्ग विशेष के प्राणियों के साथ मन, वचन, कर्म से सत्य व्यवहार करता है। और अन्यों के साथ असत्य व्यवहार करता है, फिर वह देशविशेष,

स्थानविशेष अर्थात् काशी, हरिद्वार, मथुरा, वृन्दावन वा मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारे में तो सत्य बोलता है पर अन्यत्र असत्य बोलता है। फिर वह कालविशेष में अर्थात् एकादशी, चतुर्दशी वा मगंलवार वा प्रात: सायं तो सत्य बोलता है पर अन्य कालों में झूठ बोलता है। फिर वह [7]समयविशेष, प्रसंगविशेष वा प्रयोजनविशेष के लिए तो सत्य बोलता है पर वैसे वह झूठ बोल देता है तो ऐसे व्यक्ति का जो सत्य है वह जाति, देश, काल और समयावच्छिन्न है। जाति, देश, काल और समय की सीमाओं से बंधा हुआ है, अत: वह सत्य नहीं, वह महाव्रत नहीं। पूर्ण सत्य तो वह तब होगा, महाव्रत तो वह तब होगा जबकि वह जातिविशेष, वर्गविशेष, देशविशेष, स्थानविशेष की, कालविशेष, समयविशेष की, प्रसंगविशेष, अवसरविशेष आदि की सीमाओं को लांघ कर बोला जायेगा। तभी उस को बोलने वाला, तभी उस सत्य को कहने वाला वह योगी तपस्वी भी कहलायेगा, महाव्रती भी कहलायेगा। इसी प्रकार अस्तेय-चोरी का त्याग भी, ब्रह्मचर्य का पालन भी, और [8]अपरिग्रह का पालन भी, जब कोई जाति, देश, काल और समय-प्रसंगविशेष की सीमाओं से ऊपर उठ कर करता है, अर्थात् जो सर्वदा-सदा, सर्वथा-सब प्रकार से, सब प्राणियों के प्रति अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह वृत्ति को अपनाए रखता है, तात्पर्य यह है कि जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी, किसी की भी, मन से भी चोरी नहीं करता, जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी, किसी के प्रति भी वासना भरे भाव नहीं रखता, जो कुछ भी, कहीं भी, कभी आवश्यकता से अधिक परिग्रह-सग्रंह नहीं करता तो ऐसे योगी का जो सत्य है, ऐसे योगी का जो ब्रह्मचर्य है, और ऐसे योगी का जो अपरिग्रह है, वह पूर्ण अर्थात् सार्वभौम सत्य, पूर्ण अर्थात् सार्वभौम ब्रह्मचर्य और पूर्ण अर्थात् सार्वभौम अपरिग्रह बन जाता है। वह महाव्रत बन जाता है और उसका पालन करने वाला महाव्रती बन जाता है।

सारांश यह है कि ये सारे अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप जो यम हैं ये एक सीमा के भीतर भी व्रत के रूप में पालन किये जाते हैं। पर जब एक योगी इन अहिंसा, सत्य आदि यमों के पालन में सारी सीमाओं को तोड़कर इनको सार्वभौम बना देता है, अर्थात् जब उसके ये अहिंसा, सत्य आदि धर्म सारी जातियों के (प्राणियों के) लिए हो जाते हैं, सारे देशों के लिए हो जाते हैं, सब कालों के लिए हो जाते हैं, और प्रत्येक अवसर के लिए हो जाते हैं, तात्पर्य यह है कि चाहे कुछ भी क्यों न हो जाए पर अगर वह इनके पालन करने में तनिक सी भी त्रुटि नहीं करता तो तब उसके ये व्रत महाव्रत बन जाते हैं और वह स्वयं महाव्रती बन जाता है।

सन्दर्भ सूची

1. **अनभिद्रोहो अहिंसा।** योग0 2।30 ।। द्रोह शब्द "द्रुह जिघांसायाम्" मारने की इच्छा। द्रह्यति (दिवा0)। द्रोह-जिघांसा-मारने की इच्छा, अभिद्रोह-चहुं ओर से सब प्रकार से किसी को मारने-समाप्त करने, नष्ट करने, नेस्तनाबूद करने, तहस-नहस करने की भावना को अभिद्रोह कहते हैं। ऐसी भावना को समाप्त करके जो व्यवहार किया जाता है, उसे अनभिद्रोह, अर्थात् अहिंसा कहते हैं।

2. अब यदि सत्य न बोलकर असत्य बोला जाए, चोरी से बचने के स्थान पर चोरी की जाए, ब्रह्मचर्य का पालन न करके व्यभिचार आदि किया जाए, परिग्रह से, सग्रंह से बचने के बजाए परिग्रह किया जाए, सग्रंह किया जाये, बाहर-भीतर की शुद्धि के स्थान पर बाहरी शरीर वस्त्र और स्थान तथा भीतर के मन, बुद्धि आदि को अशुद्ध, अपवित्र रखा जाये, अपने कर्मों के आधार पर मिले हुए धन-धान्य आदि में सन्तोष न करके दूसरे के ध न-धान्य आदि को लोभ-लालच की दृष्टि से देखा जाए वा प्राप्त किया जाए, उद्देश्य की प्राप्ति के लिए तप, त्याग न करके यों ही धींगा-मस्ती से उस को प्राप्त करने का प्रयास किया जाए इत्यादि इन सब कर्मों से दूसरों को दु:ख, हानि, कष्ट, पीड़ा आदि पहुंचते हैं। इसलिए वह अहिंसा मलिन हो जाती है और अगर सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का जी-जीन से पालन किया जाये जो फिर उस अहिंसा में निखार पैदा होता है, अत: इस सब को अहिंसा मूलक कहा गया है।

3. सामान्य जन अपने दैनिक जीवन में अपने घर परिवार में वा व्यापार-व्यवहार में प्राय: झूठ बोल दिया करते हैं। जैसे घर में बच्चा दवाई नहीं पीता तो उस का पिता कहता है- "बेटा! दवाई मीठी है।" बच्चा कहता है "पिता जी ! दवाई कड़वी है।" पिता फिर कहता है, 'बेटा! पीकर तो देख।' यह कह कर पिता ने उसे जल्दी से दवाई पिला दी। दवाई वास्तव में कड़वी थी पर झूठ बोलकर मीठी बतलाकर जल्दी से उस को पिला दी। ऐसे अनेक झूठ आए दिन हम प्राय: बोलते रहते हैं, पर साधक ऐसे झूठों से ही नहीं वरन् हास्यपरिहासों में भी बोले जाने वाले झूठों से हृदय से नित्य बचते रहने का प्रयास करता है, तभी वह अपने आचरण से अपने लक्ष्य के प्रति निरन्तर निकट होता जाता है।

4. क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त एकाग्र आदि चित्त की अवस्थाएं कहाती हैं। (योग)

5. क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध, ये सब चित्त की अवस्थाएं हैं।

6. इस प्रकार के अहिंसा आदि महाव्रतों का पालन तो जगत् में कोई विरला ही योगी कर पाता हैं और ऐसा जो कर पाता है, वह बड़ा ही महान् तपस्वी योगी होता है।

7. जैसे किसी के प्राणों की रक्षा होती है तो ऐसे अवसर में असत्य बोलने के सिवाय वा हंसी-मजाक में, हास-परिहास में असत्य बोलने के अतिरिक्त मैं असत्य कभी नहीं बोलूंगा। दुर्भिक्ष के बिना मैं झूठ नहीं बोलूंगा। यह सत्य समयावच्छिन्न-अवसर विशेष की सीमाओं में बोला गया सत्य है।

8. अपरिग्रह-अत्यन्त आवश्यक आवश्यकता से अधिक भोग्य साधनों का संग्रह न करना।

स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम्

डॉ0 विनोदचन्द्र विद्यालंकार
462, पीर गली, आर्यनगर
ज्वालापुर – 249407 (हरिद्वार)

एक दिन मैं अपने एक परिचित श्री केशवदेव जी (छद्म नाम) के यहां गया। देखा, केशवदेव पढ़ने में व्यस्त हैं। पूछा-भाई, क्या कर रहे हो। बोले कि स्वाध्याय कर रहा हूँ। मैंने पूछा कि कौन-सा ग्रन्थ है। वे कुछ उत्तर देते, उससे पूर्व ही मैंने देखा कि वे कोई उपन्यास पढ़ रहे हैं तथा बहुत से उपन्यास उनकी मेज पर रखे हैं। मैं अचम्भित हो सोचने लगा कि ये इस प्रकार की पुस्तकों को पढ़ना स्वाध्याय मान रहे हैं, पर तुरन्त ही मुझे माजरा समझ में आ गया। वे स्व + अध्ययन = स्वयं अध्ययन करने/पढ़ने को स्वाध्याय समझ रहे हैं। वस्तुत: 'सु अध्ययनं स्वाध्याय:' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उत्तम, अच्छे-अच्छे शास्त्रों को मनन-चिन्तनपूर्वक पढ़ना ही स्वाध्याय कहलाता है। महर्षि व्यास के अनुसार मोक्ष की ओर ले जाने वाले जो वेदादि सत्य शास्त्र हैं उनका अध्ययन करना तथा प्रणव अर्थात् ओंकार का जप करना 'स्वाध्याय' कहलाता है "स्वाध्याय: प्रणवादि पवित्राणां जप: मोक्षशास्त्राध्ययनं वा:"।

प्राचीन इतिहास के पृष्ठों पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि प्राचीन काल से ही मानव के जीवन-निर्माण में 'स्वाध्याय' की अहम् भूमिका रही है। मैत्रेयी, गार्गी, मदालसा, विद्योतमा, आदि विदुषियाँ तथा याज्ञवल्क्य, मनु, कौटिल्य, कालिदास, भवभूति आदि विद्वानों ने इसी स्वाध्याय के बलबूते पर विद्वता के चरम उत्कर्ष को प्राप्त किया। मुंशीराम, पं0 लेखराम, गुरुदत्त विद्यार्थी आदि स्वाध्याय के परिणामस्वरूप ही स्वामी दयानन्द के पथ के पथिक बने तथा आर्यसमाज के 'मिशन' को आगे बढ़ाने में अतुलनीय योगदान दिया।

प्राचीन भारतीय शास्त्रों में स्वाध्याय की महती महिमा वर्णित की गई है। सर्वप्रथम वेदों को ही लीजिये। इसमें अनेक ऋचाओं के माध्यम से वेदाध्ययन (स्वाध्याय) की प्रेरणा दी गई हैं। उदाहरणार्थ, अथर्ववेद 6.62.3 में ज्ञान का तेज पाने के लिए शरीर से शुद्ध और मन से पवित्र होते हुए वेदवाणी के अध्ययन का निर्देश दिया गया है:

वैश्वानरीं वर्चस आ रमध्वं, शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
इहेऽया सधमादं मदन्तो, ज्योक् पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्।।

इसी प्रकार सामवेद उत्तरार्चिक 10.7, 1-3,6 के अनुसार जो ऋषियों द्वारा संभृत पावमानी ऋचाओं का अध्ययन करता है उसे सुस्वादु परिपूत भोज्य पदार्थों का भक्षण करना मिलता है, उसे सरस्वती दूध, घृत,

मधु एवं रस प्रदान करती है। स्वस्ति प्रदान करने वाली इन ऋचाओं से मनुष्य परमानन्द की अवस्था को प्राप्त करता है, अमृतत्व को प्राप्त करता है।

शतपथ ब्राह्मण में स्वाध्याय का महत्त्व एवं फल कुछ यों वर्णित किया गया है : "स्वाध्याय और प्रवचन (अध्यापन) जिसे प्रिय होतें हैं वह मननशील, स्वाधीन हो जाता है, प्रतिदिन धनोपार्जन करता है, सुख की नींद सोता है तथा अपना परम चिकित्सक होता है। उसकी इन्द्रियाँ संयम में रहती हैं, उसकी एकाग्रता एवं प्रज्ञा में वृद्धि होती है, एवं वह यशस्वी होता है। इस द्यौ और पृथिवी के बीच जो कुछ श्रम हैं, स्वाध्याय ही उसका अंत है, अतः स्वाध्याय करना चाहिए।" (शत0 ब्रा0 11.5.7.1 - 2)। यहीं नहीं, जो व्यक्ति ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद इन तीनों वेदों, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय करता है उसे देवगण सभी कामनाओं और सुखों से तृप्त करते हैं (शत0 ब्रा0 11.5.7.6 - 9 तथा 11.5.6.4 - 8)। स्वाध्याय की अपरिहार्यता दर्शाते हुए स्वाध्याय न करने वाले को अब्राह्मण की संज्ञा दी गई है- "तदहर्ब्राह्मणो भवति यदहः स्वाध्यायं नाधीते तत्स्मात्स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" (शत0 ब्रा0 11. 5.7.10)। इसी ब्राह्मण में 11.5.6 में पंच महायज्ञों की विवेचना के दौरान स्वाध्याय को ब्रह्मयज्ञ की संज्ञा दी गई है- "स्वाध्यायो वे ब्रह्मयज्ञः"।

मनुस्मृति में 'स्वाध्याय' शब्द से मनु का तात्पर्य वेदों का सतत सांगोपांग अध्ययन, संध्योपसना और अग्निहोत्र से है (मनु0 2.79 - 81)। मनु के अनुसार, जिस प्रकार दूध, दही, घी और मधु के सेवन से शरीर तृप्त, पुष्ट, बलशाली और नीरोग हो जाता है उसी प्रकार स्वाध्याय से भी मानवजीवन शांतिमय, गुणमय, ज्ञानमय और पुण्यमय या आनन्दमय हो जाता है:

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः।
तस्य नित्यं क्षरत्येव पयो दधि घृतं मधु।। मनु0 2.82

मनु ने यहाँ तक कह दिया कि द्विजमात्र को गूढ़ार्थज्ञान-चिन्तनपूर्वक वेदों का अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि यही उनके लिए परम तप है। जो द्विज गृहस्थी होकर भी प्रतिदिन स्वाध्याय यानि वेदों का अध्ययन करता है वह निश्चय ही श्रेष्ठ तप करता है(मनु0 2. 140 - 142)। वे मानते हैं कि द्विजों को सदा अधिक से अधिक समय स्वाध्याय = वेदाभ्यास में लगाना चाहिए, यही उनका सर्वोत्तम ध र्म है:

वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः।
तं ह्यस्याहुः परं धर्ममुपधर्मोऽन्य उच्यते।। मनु0 4.147

मनु की दृष्टि में गृहस्थों को कृतकृत्यता के लिये स्वाधयाय करना आवश्यक है (मनु0 4.17)। इस तथ्य के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने यह परामर्श दिया है कि "स्वाध्याये चैव युक्तः स्यान्निव्यमात्महितेषु च" (मनु0 4.35)। यही नहीं, वानप्रस्थी को भी नित्य स्वाध्याय करने का निर्देश वे देते हैं (मनु0 6.8)।

कौटिल्य के अनुसार ब्राह्मण का धर्म अध्ययन-अध्यापन तथा क्षत्रिय एवं वैश्य का धर्म अध्ययन करना है (कौटि0 अर्थ0 1.2.3)। उन्होंने आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचारी के लिये नियमित स्वाध्याय करने का विधान किया है-

"ब्रह्मचारिणः स्वाध्यायः"।

योग दर्शन में स्वाध्याय को क्रियायोग कहा है:

"**तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः**" (साधनपाद 1) इसमें वर्णित पांच नियमों में एक नियम 'स्वाध्याय है- "**शौच-संतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः**" (यो0 द0 2.32)।

तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार वेदारंभ के समय ब्रह्मचारी को तथा समापवर्तन (दीक्षान्त) के समय स्नातक को आचार्य स्वाध्याय से विमुख न होने का उपदेश देता है (तैत्ति0 उप0 9. 1-2 तथा 11.1)।

यह तो रही शास्त्रों की बात, जिसे सैद्धान्तिक पक्ष भी कहा जा सकता है। परन्तु व्यावहारिक जीवन में भी स्वाध्याय करने से बहुत से लाभ मिलते हैं। कर्तव्याकर्तव्य का बोध करने के लिए भी स्वाध्याय=वेदाध्ययन की आवश्यकता है। क्या धर्म है और क्या अधर्म है, यह वेदज्ञ ही बतला सकता है। स्वाध्याय से मनुष्य की विद्या बढ़ती है और वह भले बुरे, उचित-अनुचित का विचार ठीक प्रकार से कर सकता है। स्वाध्याय के बिना मनुष्य की एक बड़ा सहायक विद्या मनुष्य से पृथक् हो जाती है और वह कर्तव्याकर्तव्य के ज्ञान से विहीन हो कर जीवन में कष्ट उठाता है।

एक आम धारणा है कि स्वाध्याय केवल ब्राह्मणों एवं ब्रह्मचारियों के लिए ही विहित है, परन्तु यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः स्वाध्याय मानव-मात्र के लिए अपरिहार्य है, चाहे वह किसी भी वर्ण का हो, किसी भी आश्रम-धर्म का पालन कर रहा हो, नर हो या नारी हो, हर किसी को किसी न किसी रुप में वेदादि श्रेष्ठ ग्रन्थों का स्वाध्याय करना ही चाहिए। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने प्रत्येक आर्य के लिए वेदों का पढ़ना-पढ़ाना परम धर्म कहा है (आर्यसमाज का नियम 1)। जैसा कि ऊपर वर्णित किया जा चुका है, मनु, कौटिल्य आदि पूर्वाचार्यों का भी यही अभिमत था।

उपर्युक्त संकल्पना के परिप्रेक्ष्य में दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि आर्यसमाज के प्रारंभिक दिनों में आर्यसमाजी लोगों में स्वाध्याय के प्रति अत्यधिक रूचि थी, प्रत्येक आर्य स्वामी दयानन्द द्वारा रचित सत्यार्थ प्रकाश आदि मुख्य-मुख्य ग्रन्थों का स्वाध्याय करना अपना नैतिक कर्तव्य समझता था। इन ग्रन्थों के पाठन से स्वामी जी के मंतव्यों को जान लेने के बाद कुछ लोग वेदभाष्य, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अध्ययन की ओर अग्रसर होते थे। उन दिनों में आर्यसमाजी विचारधारा के लोग संख्या में वर्तमान की अपेक्षा कम होते थे, परन्तु समाज के सिद्धान्तों से भिन्न लोगों की संख्या अपेक्षाकृत कहीं अधिक थी। उन दिनों के आर्यसमाजी पत्र आध्यात्मिक/धार्मिक सिद्धान्त विषयक चर्चा से भरे होते थे - कहीं पुराणों में उल्लिखित विचारों का खण्डन एवं स्वमत मण्डन होता था, कहीं वेदों को ब्राह्मणातिरिक्त सिद्ध

किया जाता, तो कहीं किन्हीं इतर मतावलम्बियों द्वारा आर्यसमाज के सिद्धान्तों एवं महर्षि के मंतव्यों आदि के संबंध में उठायी गई शंकाओं का सप्रमाण तर्कसंगत खण्डन-मंडन किया जाता। यह सब आर्यसमाज के तत्कालीन स्वाध्यायशील-वैदिक एवं एतत्संबंधी साहित्य के पठन-पाठन में तल्लीन विद्वानों की लेखनी का कमाल था। यह कमाल केवल लेखन तक ही सीमित नहीं था, वरन् उनकी वाणी पर भी सरस्वती का वास था। उनके गहन अध्ययन की प्रवृत्ति का ही परिणाम था कि वे पौराणिक एवं अन्य मतावलंबी विद्वानों से रूबरू हो कर दुरूह से दुरूह विषय पर शास्त्रार्थ करने में तनिक भी संकोच नहीं करते थे और सफलता प्राप्त होने पर आर्यसमाज की तूती हर जगह बोलती थी।

बीच में कुछ समय ऐसा आया जब स्वाध्याय के प्रति लोगों की रुचि उत्तरोत्तर कम होती गई। वेद, शास्त्र और सिद्धान्त संबंधी गम्भीर विवेचना या अन्वेषणा से परिपूर्ण ग्रन्थों को पढ़ने वाले और उन पर विचार करने वाले लोगों की संख्या उत्तरोत्तर घटती गई - केवल गिने चुने विद्वान् ही इससे लाभ उठाते थे, यहाँ तक कि स्वामी दयानन्द जी के मंतव्यों एवं सिद्धान्तों की विवेचना करने वाली पुस्तकों व लेखों को गंभीरता से पढ़ने वाले भी कठिनाई से उपलब्ध होते थे। आर्य समाज में इस स्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए स्वामी श्रद्धानन्द जी ने लिखा था- "... इस औदासीन्य और उपेक्षा का कारण क्या है ? इसका एक शब्द में उत्तर 'स्वाध्याय का अभाव' है। आर्यसमाजियों की अधिक संख्या प्रतिदिन अपने वेदादि धर्मग्रन्थों का अनुशीलन करना अपना कर्तव्य नहीं समझते। यदि प्रतिदिन किसी न किसी सत् शास्त्र के अध्ययन में थोडा समय लगा दिया जाये तो कभी संभव नहीं कि इन गंभीर विषयों की ओर से इतना औदासीन्य हो और इनकी जगह हल्के और अगंभीर साहित्य की ओर लोगों का ध्यान जावे। स्वाध्याय में आश्चर्यजनक शक्ति है। वह मनुष्य के हल्केपन को नष्ट कर देता है, सत्शास्त्रों द्वारा महान् आत्माओं की संगति से मनुष्य का मन नम्र, अगर्वित और अपने असली मूल्य को समझने के योग्य हो जाता है।" ('आर्यसमाज में स्वाध्याय का अभाव', सद्धर्म प्रचारक, 29 दिसम्बर 1910)।

स्वामी श्रद्धानन्द जी द्वारा उक्त विचार व्यक्त किये जाने के बाद एक बार पुनः आर्यसमाज में स्वाध्यायशील विद्वानों, शास्त्रार्थियों एवं उपदेशकों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई, जिन्होनें अपनी लेखनी एवं वाणी के माध्यम से आर्यसमाज एवं महर्षि के मंतव्यों तथा वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। इसमें गुरुकुलों एवं उपदेशक विद्यालयों की अहम् भूमिका रही।

आइये, अब वर्तमान पर दृष्टि डालें। आज समाज में सद्ग्रन्थों एवं सत् साहित्य को पढ़ने में रुचि रखने वाले लोगों का सर्वथा अभाव-सा होता जा रहा है। रुचि है तो समाज की राजनीति में, नेता बनने की होड़ में सहभागिता करने में। लिखने-पढ़ने तथा वेद प्रचार आदि रचनात्मक कार्यों में सक्रिय सहभागिता के प्रति अभिरुचि केवल कुछेक लोगों में ही देखने को मिलती है। वेदों एवं सम्बन्धित साहित्य की बजाये हल्के-फुलके साहित्य को 'स्वान्तः सुखाय' पढ़ लेना ही स्वाध्याय माना जाने लगा है। आर्य पत्र-पत्रिकाओं से भी इसी प्रकार के लेख, कहानी-किस्से प्रकाशित करने की अपेक्षा की जाती है, विचारपूर्ण सामग्री को 'बोझिला' समझा जाता है। इस स्वाध्याय में अरुचि का दुष्प्रभाव यह है

कि आज आर्यसमाज में शास्त्रार्थ की परम्परा तो लुप्तप्राय ही है, प्रभावशाली विद्वान् उपदेशकों की भी निरन्तर कमी होती जा रही है। इसका कुप्रभाव आर्यसमाज की प्रगति पर पड़ना स्वाभाविक ही है।

उपर्युक्त तथ्यों के परिपेक्ष्य में समष्टि रुप में कहा जाये तो सामाजिक हितभाव तथा आत्मिक एवं मानसिक उन्नति के लिए प्रत्येक मनुष्य को प्रतिदिन स्वाध्याय के प्रति समर्पित होना चाहिए। स्वाध्याय के लिए सर्वोत्तम ग्रन्थ महर्षि दयानन्द का वेदभाष्य है। जो लोग संस्कृत नहीं समझ पाते हैं वे आर्यभाषा में लिखे भावार्थों का अध्ययन कर सकते हैं। स्वाध्याय के लिए दूसरी उपयुक्त पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश है, जिसके प्रथम दस समुल्लासों के अभ्यास से बहुत लाभ उठाया जा सकता है। इन दोनों कृतियों से स्वामी जी के मन्तव्यों की पूर्ण जानकारी उपलब्ध हो सकती है। यदि आर्यसमाजी जनमानस 'वेदमंत्रों' के स्वामी जी कृत अर्थ/भावार्थ ही आर्यसमाज के सिद्धान्त हैं', यह मानकर उनका अध्ययन करते रहें तो उन्हें पूरा-पूरा आभास मिल सकेगा कि अपने जीवन के किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्यसमाज के बाहर जाने की जरूरत नहीं है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों का भी स्वाध्याय किया जा सकता है; सभी उपनिषदें मूल संस्कृत एवं हिन्दी भाष्य के रूप में उपलब्ध हैं। नैत्यिक स्वाध्याय के लिए ईश, केन, कठ, प्रश्न इन चार उपनिषदों को चुना जा सकता है। स्वामी समर्पणानन्द जी ने श्रीमद् भगवत् गीता का तथा स्वामी जगदीश्वरानन्द जी आदि कतिपय विद्वानों ने वाल्मीकि रामायण का आर्यसमाजीकरण कर दिया है, उन्हें आर्यसमाज की विचारधारा के अनुरुप बना दिया है। उनका भी अध्ययन किया जा सकता है। यही नहीं, तुलनात्मक अध्ययन करने की दृष्टि से पुराणों आदि को पढ़ने में भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए, परन्तु यह बहुत बाद की बात है यानि स्वाध्याय में प्रौढ़ता आने पर इस दिशा में सोचा जा सकता है, आरम्भिक काल में नहीं।

यदि प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य आरम्भ करने से पूर्व सन्ध्या-हवन आदि नित्यकर्मों के बाद कम से कम 30 मिनट भी इन ग्रन्थों का अनुशीलन कर लिया करे तो उसे अत्यधिक लाभ होने की संभावना है। इससे ज्ञान में तो वृद्धि होगी ही, साथ ही अन्य भौतिक लाभ भी संभावित हैं। यद्यपि गृहस्थाश्रमी के लिए भी स्वाध्यायी होने की आवश्यकता है और 30 मिनट का समय हरेक गृहस्थी इस पुण्यकर्म के लिए सरलता से निकाल सकता है, तथापि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी का तो स्वाध्याय से अत्यधिक गहरा संबंधा है। स्वाध्याय अंगी है तो ये तीनों अंग हैं। इन तीनों आश्रमों में रहते हुए व्यक्ति को जीविका प्राप्ति आदि सांसारिक कार्यो की चिन्ता नहीं रहती, अत: वह अधिक से अधिक समय निकाल सकता है, गहन अध्ययन एवं अनुशीलन कर सकता है।

आइये, हम यह संकल्प लें कि हम अपने जीवन में स्वाध्याय को अपना कर ऋषि-ऋण से उऋण होने का सतत् प्रयास करेंगे।

पाणिनीयाष्टक के आधार पर वेद की इयत्ता
(दयानन्दीय विचारधारा के आलोक में)

डॉ० दिनेशचद्र शास्त्री डी. लिट्, वेदविभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय (हरिद्वार)

वैदिक पदों की सिद्धि के लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी में उन-उन स्थलों पर छन्दस्, मंत्र, ब्राह्मण, संहिता, निगम आदि भिन्न-भिन्न पदों का सूत्रों में प्रयोग किया गया है। क्या ये सब पद एक ही अर्थ को कहते हैं? या भिन्न-भिन्न अर्थों को? यह बात विचारणीय व चिन्तनीय है।

वेदों की इयत्ता के प्रश्न को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, एक तो यह कि वेद मंत्रों की ठीक संख्या क्या है? अनेक मंत्र वेद में कई स्थलों पर आते हैं। क्या उनको एक ही संख्या में गिना जाए, या अलग-अलग माना जाए। इसी विभाग में प्रक्षिप्त कह जाने वाले खिल सूक्तों का विवेचन भी समाविष्ट हो जाता है। दूसरा यह कि किन ग्रन्थों अथवा साहित्य के कितने भाग को वेद कहा जा सकता है? प्रस्तुत निबन्ध में हम दूसरे अंश पर ही कुछ प्रकाश डालने का यत्न करेंगे। जो कि केवल पाणिनिकृत अष्टाध्यायी के प्रथम और द्वितीय अध्याय के आधार पर होगा।

आर्यसमाजी वैदिक विद्वानों के अनुसार पाणिनि का समय महाभारत युद्ध के लगभग तीन शताब्दी पश्चात् है। महाभारत युद्ध को हुए लगभग पांच सहस्र वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस प्रकार अबसे लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व तत्कालीन आचार्यों का वेद की इयत्ता के सम्बन्ध में क्या विचार था, यही स्पष्ट करना, हमारे इस लेख का प्रयोजन है।

कुछ आधुनिक विद्वानों की धारणा है, कि अष्टाध्यायी में प्रयुक्त छन्दस् आदि पद एक ही अर्थ को कहते हैं। उनका अभिप्राय यह है, कि 'छन्दस्' पद जिस अर्थ को कहता है, मंत्र तथा ब्राह्मण आदि पद भी उसी अर्थ के बोधक हैं। इनके प्रयोग में कुछ विशेषता नहीं है। लेखक की इच्छा पर निर्भर है कि वह कहीं भी किसी भी पद का प्रयोग कर दे। पाणिनि नेभी इन अनेक पदों का प्रयोग अष्टाध्यायी में इसी धारणा से किया है। अत: अष्टाध्यायी की दृष्टि में 'वेद' पद से केवल चार-ऋग्, यजु:, साम और अथर्व इन मूल संहिताओं का ही ग्रहण होना चाहिए, ऐसा नहीं है। प्रत्युत 'वेद' पद से चारों वेद, सम्पूर्ण शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि सबका ही ग्रहण होता है।

परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है, जहाँ-जहाँ अष्टाध्यायी में इन पदों का प्रयोग हुआ है, उनके उदाहरण स्थलों की तुलना करने से पता लगता है, कि इन पदों का प्रयोग विशेष अर्थों में ही हुआ है। उन उन सूत्रों के उदाहरणों का सब से प्राचीन उल्लेख जो हमें आज उपलब्ध होता है, पातञ्जल महाभाष्य में है। महाभाष्य के लिखे जाने का समय विक्रम संवत् से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व माना

जाता है। पूर्व निर्दिष्ट पाणिनि के समय से पतञ्जलि के प्रादुर्भावकाल का अन्तर लगभग दो सहस्र वर्ष होता है। पाणिनि ने जिन लक्ष्य प्रदेशों को लेकर अपने लक्षणशास्त्र की रचना की, वैयाकरणों की परम्परा द्वारा वे ही लक्ष्य प्रदेश पतञ्जलि को प्राप्त हुए, और आज उसके लेख द्वारा हमको भी प्राप्त हैं। यह संभव है, कि पतञ्जलि ने पाणिनिकाल के अनेक लक्ष्यपदों का परित्याग कर नये लक्ष्य पदों का संग्रह कर लिया हो, परन्तु जहाँ तक वैदिक पदों का सम्बन्ध है, लक्ष्यता की दृष्टि से उनके बहुत ही कम उलट फेर की सम्भावना की जा सकती है। इसलिए उन-उन स्थलों में जो उदाहरण वैदिक पदों के पतञ्जलि ने दिये हैं, उनको ही लक्ष्य समझकर पाणिनि ने अपने लक्षण सूत्रों की रचना की थी, ऐसा ही समझना चाहिए। ऐसी विद्वत् धौरेय जनों की मान्यता है। इस प्रकार पतञ्जलि के द्वारा प्रदर्शित उदाहरणों में पाणिनि के पूरे सामञ्जस्य को समझकर ही हम आगे बढ़ते हैं।

पाणिनीयाष्टक में ऐसे चौदह पदों का प्रयोग किया गया है, जिनके द्वारा वैदिक पदों की सिद्धि का निर्देश होता है। वे पद ये हैं -

1. छन्दस्, 2. संहिता, 3. ब्राह्मण, 4. चरण, 5. मंत्र, 6. छन्दो नाम, 7. छन्दस् प्रगाथ, 8. छन्दो ब्राह्मण, 9. ब्राह्मण कल्प, 10. यजुः, 11. निगम, 12. ऋक्, 13. यज्ञ, 14. यजुः काठक

इन सब में से केवल पांच पदों को मुख्य समझकर उन्हीं के आधार पर हमने इस समय यह प्रस्तुत विवेचन किया है। वे पद हैं- मंत्र, छन्दस्, संहिता, निगम, ब्राह्मण। उन सब स्थलों में वैदिक पदों के जो उदाहरण दिये गए हैं उनके आधार पर वैदिक लक्ष्य पदसमूह का वर्गीकरण निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है-

'मन्त्र' पद का प्रयोग, केवल चार मूल संहिताओं के लिए, तथा शाखा संहिताओं में जो मन्त्र भाग है, उसके लिए भी किया गया है।

'छन्दस्' पद का प्रयोग सम्पूर्ण वेद तथा वैदिक साहित्य के लिए किया गया है, जिसमें चारों मूल वेद, शाखासंहिता तथा ब्राह्मण उपनिषद् आदि का समावेश हो जाता है।

'संहिता' पद का प्रयोग, चार मूल संहिताओं तथा सम्पूर्ण शाखा संहिताओं के लिए किया गया है। अर्थात् 'ब्राह्मण' भाग को छोड़कर शेष सम्पूर्ण वैदिक साहित्य। इसमें चारों वेद तथा उनकी शाखा संहिताओं का ही समावेश होता है।

'निगम' पद का प्रयोग, चार मूल संहिताओं को छोड़कर शेष सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के लिए किया गया है। इसमें सम्पूर्ण शाखा संहिता, ब्राह्मण उपनिषद् आदि का समावेश हो जाता है। इस विचार की पुष्टि तथा संतुलन के लिए मनुस्मृति का **'निगमांश्चैव वैदिकान्'** (4/19) श्लोक द्रष्टव्य है। इसी प्रकार अष्टाध्यायी में 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग केवल ब्राह्मण ग्रन्थों के लिए किया गया है तथा जो शाखान्तर्गत ब्राह्मण भाग है उसके लिए भी।

इस प्रकार उदाहरणों के आधार पर अष्टाध्यायी में मन्त्र, छन्दस् आदि पदों के प्रयोग की अर्थसम्बन्धी विशेषता को हम स्पष्ट रूप में समझ पाते हैं।

यहाँ पर यह एक विशेष विचारणीय बात है, कि अष्टाध्यायी के सूत्रों में, मन्त्र छन्दस् आदि पदों के साथ 'वेद' पद का कहीं प्रयोग नहीं किया गया। तथापि पाणिनि का स्वारस्य इस बात में सन्निहित है, कि पाणिनि ने 'वेद' पद के स्थान पर ही अष्टाध्यायी में 'मंत्र' पद का प्रयोग किया है। पूर्वोक्त वर्गीकरण के अवसर पर हमने यह स्पष्ट किया है कि उदाहरणों के आधार पर यह निश्चित होता है, कि अष्टाध्यायी में 'मंत्र' पद का प्रयोग केवल चार मूल संहिताओं के लिए किया गया है। उन्हीं मूल संहिताओं का निर्देश पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'वेद' पद से किया है। प्रथम आह्निक में ही शब्द का महान् प्रयोग विषय बताते हुए पतञ्जलि ने लिखा है-

''चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेद' इत्यादि।

यहाँ स्पष्ट रूप में चार वेदों का उल्लेख है। उनके नाम लिखे हैं- अध्वर्यु, सामवेद, बाह्वृच्य और आथर्वणवेद। अध्वर्युः यजुः तथा बाह्वृच्य ऋक् का नाम है। इस प्रकार ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, इन चार को यहाँ 'वेद' नाम से कहा गया है। ये ही चार मूलमंत्र संहिता कही जाती हैं। आगे पतञ्जलि लिखते हैं कि इन चार मूल संहिताओं में ही शब्द का प्रयोग विषय समाप्त नहीं हो जाता, प्रत्युत इनके अतिरिक्ति और भी है। वह क्या है? पतञ्जलि कहते हैं, वेद के अङ्ग तथा रहस्य-उपनिषद् और वेद की बहुत-से शाखा। कौन-सी वेद की कितनी शाखा? यह भी उन्होंने यहां गिना दिया है। इस गणना में मूल वेद भी सम्मिलित हैं, इससे स्पष्ट हो जाता है, कि 'मंत्र' नाम से कही जाने वाली चार मूल संहिताओं को ही यहाँ 'वेद' पद से निर्देश किया गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी में 'मंत्र' पद- 'वेद' के पर्याय रूप में ही प्रयुक्त किया गया अवगत होता है। पतञ्जलि के निर्देश से इस अर्थ में पाणिनि के स्वारस्य का हम अनायास ही अनुमान कर सकते है। इस प्रकार अष्टाध्यायी में 'वेद' पद का प्रयोग न होने पर भी इसके स्थान में 'मंत्र' पद का प्रयोग किया गया है, यह स्पष्ट हो जाता है।

यद्यपि मुख्य रूप से 'वेद' पद, मंत्र संहिता के लिए ही प्रयुक्त हुआ है, परन्तु कहीं-कहीं गौण रूप से अन्य वैदिक-सहित्य के लिए भी इसका प्रयोग कर दिया गया है। महाभाष्य के प्रथम आह्निक में एक लेख है- **''वेदे खल्वपि पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षाव्रतो वैश्यः''**। यह निश्चित है कि ये वाक्य मंत्र संहिता के नहीं है परन्तु इनके लिए भी यहाँ 'वेद' पद का प्रयोग कर दिया गया है। ऐसे प्रयोगों की गौण मुख्यता का निर्णय महाभाष्य में उल्लिखित उन उदाहरणों के आधार पर किया जा सकता हैं, जो अष्टाध्यायी के 'छन्दस्' 'मंत्र' आदि पदों के प्रयोग स्थलों में निर्दिष्ट किये गए हैं।

अब हम इस प्रकार के कुछ उदाहरणों का यहाँ उल्लेख करते हैं, जिनसे हमारे उपर्युक्त वर्गीकरण की पुष्टि होती है-

1/2/36 सूत्र में 'छन्दस्' पद का प्रयोग है। इसके जितने उदाहरण, अष्टाध्यायी के व्याख्याग्रन्थों में दिये गए हैं, वे सब मूल वेद अर्थात् मूल चार संहिताओं के हैं।

आगे 1/2/61-62 में 'छन्दस्' पद का प्रयोग है, वहाँ जितने उदाहरण दिये गए हैं वे सब मैत्रायणी-काठक तथा तैत्तिरीय नामक शाखा संहिताओं के हैं, जो सब कृष्णयजुर्वेद की शाखा हैं। 2/3/3 में पुन: 'छन्दस्' पद का प्रयोग है। वहां जितने उदाहरण दिये गए हैं, वे सब ब्राह्मण ग्रन्थ तथा श्रौतसूत्रों से ही लिये हैं। इन आधारों पर 'छन्दस्' पद् के व्यापक प्रयोग का निश्चय होता है। इससे अंशरूप में यह भी सिद्ध हो जाता है, कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग मूल वेद के लिए भी किया जा सकता है। इस की साक्षी साक्षात् वेद से भी हमें मिलती है। वहाँ लिखा है-

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋच: सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।। (यजु0 31/7)

दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भ में ही इस के अर्थ को स्पष्ट किया है। अब हम इस परिणाम पर पहुँच जाते हैं, कि अष्टाध्यायी के आधार पर 'छन्दस्' पद का प्रयोग सम्पूर्ण वेद तथा वैदिक साहित्य के लिए होता रहा है। परन्तु ब्राह्मण पद का प्रयोग इस से भिन्न अर्थ में हुआ है, इसकी पुष्टि के लिए हम आगे बढ़ते हैं।

2/3/60 में 'ब्राह्मणे' पद का प्रयोग किया गया है और उससे अगले 61 सूत्र में उसकी अनुवृत्ति जाती है। इससे आगे ही 62 वें सूत्र में 'छन्दसि' पद का प्रयोग किया गया है। यदि 'ब्राह्मण' और 'छन्दस्' पदों का प्रयोग समान अर्थ में ही होता, तो 'ब्राह्मण' पद की पहले से अनुवृत्ति आने पर 62 वें सूत्र में 'छन्दसि' पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं थी। इससे निश्चित होता है कि अष्टाध्यायी में 'ब्राह्मण' तथा 'छन्दस्' पदों का प्रयोग भिन्न-भिन्न अर्थों में हुआ है। ऋषि दयानन्द ने अपने अष्टाध्यायी भाष्य में इस सूत्र पर लिखा है -

''छन्द: शब्देन मन्त्रभागस्य मूलवेदस्य ग्रहणं भवति। ब्राह्मण शब्देनैतरेयादि व्याख्यानानाम्। अत एव 'ब्राह्मणे' इत्यनुवर्त्तमाने पुनश्छन्दो ग्रहणं कृतम्।''

इस लेख से यह प्रमाणित होता है, कि ऋषि दयानन्द के विचार से 'छन्दस्' पद का प्रयोग, मूल वेद अर्थात् मंत्र भाग के लिए होना चाहिए। पर वस्तुत: 'ब्राह्मण' से 'छन्दस्' का भेद दिखलाने के लिए ही 'छन्दस्' पद का यहाँ यह अर्थ किया गया है। क्योंकि इस सूत्र पर भी जो उदाहरण स्वामी जी ने लिखे हैं, वे किसी मूल वेद के नहीं हैं। यद्यपि एक उदाहरण वाजसनेयि संहिता का है। शेष तैत्तिरीय संहिता के उदाहरण हैं। अन्य स्थलों में भी, जहाँ सूत्रों में 'छन्दसि'

पद का प्रयोग हुआ है, श्री स्वामी जी ने तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि संहिताओं के तथा ब्राह्मण और श्रौत सूत्र आदि के उदाहरण दिये हैं। इस के लिए ऊपर निर्दिष्ट अन्तिम दो स्थलों (1/2/61-62, 2/3/3) को ही देखिए। इससे स्वामी जी का अभिमत यही प्रतीत होता है, कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग, चारों मूल मंत्र संहिता, तथा उनके अतिरिक्त शेष सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के लिए भी होना चाहिए। इसी अर्थ को ऋषि दयानन्द ने 3/2/73 सूत्र पर एक पंक्ति लिखकर स्पष्ट किया है। उसका निर्देश आगे किया जा रहा है।

इतने लेख से यह स्पष्ट हुआ कि 'छन्दस्' और 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग पाणिनि के द्वारा समान अर्थ में नहीं किया गया। अब 'छन्दस्' और 'मन्त्र' पदों के प्रयोग की विषमता को भी देखिये।

3/2/71 सूत्र में 'मन्त्रे' पद का प्रयोग **पाणिनि के द्वारा समान अर्थ में नहीं** किया गया है। अगले 72 वें सूत्र में इस पदकी अनुवृत्ति जाती है। इनके उदाहरण ऋक् तथा यजुर्वेद से दिये गए हैं। 73 वें सूत्र में फिर 'छन्दसि' पद का प्रयोग हुआ है। इसका उदाहरण शतपथ ब्राह्मण से दिया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि 'छन्दस्' और 'मंत्र' पदों की पर्यायता नहीं कही जा सकती। यदि ऐसा होता, तो 73 वें सूत्र में 'छन्दस्' पद का प्रयोग निरर्थक था। इसी दृष्टि से ऋषि दयानन्द ने इस सूत्र पर निम्न पंक्ति लिखी है-

''मन्त्र इत्यनुवर्त्तमाने पुनश्छन्दोग्रहणस्यैतत् प्रयोजनम्-'मंत्र' शब्देन मूल संहितानां ग्रहणं भवति, तत्र (छन्दोग्रहणे) शाखान्तराणामपि ग्रहणं यथा स्यात्।''

अर्थात्- 'मंत्र' पद की अनुवृत्ति आने पर फिर 'छन्दस्' पद के ग्रहण का यह प्रयोजन है, कि मंत्र शब्द से मूल संहिताओं का ग्रहण होता है, 'छन्दस्' शब्द का कथन करने पर भिन्न शाखाओं का भी ग्रहण हो जायेगा।

ऋषि दयानन्द के इन दोनों स्थलों के लेखों को मिलाकर समझने से यह अभिप्राय स्थिर होता है, कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग अष्टाध्यायी में मूल वेद, उनकी सम्पूर्ण शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद् तथा श्रौत, गृह्यसूत्र आदि सब ही वैदिक साहित्य के लिए होता है। और 'मंत्र' पद का केवल चार मूल संहिताओं के लिए। 2/3/62 सूत्र की व्याख्या पंक्ति में 'छन्दस्' पद का जो अर्थ ऋषि दयानन्द ने किया है वह केवल उसी स्थल में 'ब्राह्मण' से भेद बताने के लिए कहा गया है। क्योंकि वहाँ भी उदाहरणों में शाखाओं (तैत्तिरीय, मैत्रायणी संहिता) के उदाहरण दिये गए हैं। अभिप्राय केवल यही है कि 2/3/62 सूत्र के उदाहरण स्थल, ब्राह्मण ग्रन्थों में नहीं हैं। इतने लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि अष्टाध्यायी में मंत्र, छन्दस् तथा ब्राह्मण पद अपने विशेष अर्थों को प्रकट करने के लिए ही प्रयुक्त किये गए हैं। इनसे एक ही अर्थ का बोध नहीं होता।

अब अन्य सूत्रों के उदाहरणों का भी तुलना के लिए यहाँ उल्लेख किया जाता है।

2/4/28 में 'छन्दसि' पद का प्रयोग है। इसके उदाहरण केवल मूल संहिताओं से दिये गये हैं। 2/4/39 में भी 'छन्दसि' पद का प्रयोग है। परन्तु वहाँ उदाहरण मूलसंहिताओं तथा तैत्तिरीय, मैत्रायणी एवं काठक आदि शाखा संहिताओं से भी दिये गये हैं। 2/4/73 में 'छन्दसि' पद का प्रयोग है। परन्तु वहाँ उदाहरण केवल मूलवेद से दिये गए हैं। इसी प्रकार 2/4/76 में 'छन्दसि' पद के उदाहरण केवल शाखा संहिताओं अर्थात् मैत्रायणी, तैत्तिरीय और काठक संहिताओं से दिये गये हैं। फलतः इन प्रकरणों से भी स्पष्ट हो जाता है, कि 'छन्दस्' पद का प्रयोग, मूलवेद तथा सम्पूर्ण वैदिक साहित्य के लिए पाणिनि ने किया है।

2/4/80 में 'मन्त्रे' पद का प्रयोग है। इसके सब उदाहरण मूलवेद से ही दिये गए हैं। परन्तु यहाँ एक बात विचारणीय है। इस सूत्र की अन्तिम धातु 'जनि' का 'अज्ञत' प्रयोग, ब्राह्मण में ही दिया गया है, मूल वेद में नहीं। इस का वेद में अन्वेषण करना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने अष्टाध्यायी भाष्य की टिप्पणी में इस सूत्र पर अन्तिम धातु के प्रयोग को लक्ष्य कर इस प्रकार लिखा है-

"मन्त्रग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम्।"

अर्थात् इस सूत्र में 'मंत्र' का ग्रहण, छन्दस् का भी उपलक्षण है। तब सूत्र में 'मंत्र' पद का उपादान होने पर भी यथासम्भव कोई उदाहरण मूल वेद के अतिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य से भी उपस्थित किये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में 'जनि' धातु का 'अज्ञत' उदाहरण ब्राह्मण का होने पर भी प्रकृत में कोई असामञ्जस्य नहीं होता। तथा इस लेख से भी इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है, कि 'मंत्र' पद 'छन्दस्' का समानार्थक समझा जाकर अष्टाध्यायी में प्रयुक्त नहीं किया गया। अन्यथा 'मन्त्र' पद को 'छन्दस्' का उपलक्षण बताना अनर्थक होगा।

ऐसा नहीं है, कि ऋषि दयानन्द ने ही यह उल्लेख किया हो। काशिका में वामन जयादित्य ने भी लिखा है- **'जनि' अज्ञत वा अस्य दन्ताः। ब्राह्मणे प्रयोगेऽयम्। मन्त्र ग्रहणं तु छन्दस उपलक्षणार्थम्।"**

इससे स्पष्ट है कि बहुत पहले से ही वैयाकरणों में यह व्यवस्था चली आ रही है। महाभाष्य में यह सूत्र खण्डित हो गया है। इसका भाष्य उपलब्ध नहीं होता। पर काशिका में इस प्रकार के उल्लेख प्रायः सब भाष्यानुसारी ही देखे जाते हैं। इससे खण्डित भाष्य लेख का कुछ अनुमान अवश्य किया जा सकता है।

यहाँ तक अष्टाध्यायी के प्रथम तथा द्वितीय अध्याय में जहाँ-जहाँ 'छन्दस्' 'मन्त्र' आदि पदों का प्रयोग हुआ है, उसके आधार पर हमने विवेचन किया है। जिसके आधार पर अति संक्षेप से इस बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है, कि अष्टाध्यायी में मंत्र, ब्राह्मण, छन्दस्, संहिता आदि पदों का एक ही अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया। इसलिए जो विद्वान् पाणिनि के आधार

पर मन्त्र तथा ब्राह्मण आदि को समान रूप से वेद कहते हैं, उन्हें अपने चिन्तन पर पुनः विचार करना चाहिए।

सन्दर्भ-ग्रन्थ

1. अष्टाध्यायी (मूल) शुद्धसंस्करण, रामलाल कपूर ट्रस्ट
2. अष्टाध्यायी भाष्य प्रथमावृत्ति (1 से 3 भाग), रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़, सोनीपत-हरियाणा
3. काशिका, आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला, दिल्ली, 1978
4. अष्टाध्यायी काशिका (प्र0अ0) डॉ0 वेदपाल विद्याभास्कर,साहित्य भण्डार, मेरठ, 1985
5. महाभाष्यम् पतञ्जलिमुनि विरचितम् (प्रथमो भागः), यु0 मीमांसक, प्यारेलाल द्राक्षा देवी ट्रस्ट देहली, 1979
6. पातञ्जल महाभाष्यम्, गुरुकुल झज्जर, हरियाणा
7. संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास (1-3 भाग), यु0 मीमांसक, रामलाल कपूर ट्रस्ट, 1973
8. दयानन्दकृत अष्टाध्यायीभाष्य (1-3 भाग), वैदिक पुस्तकालय, परोपकारिणी सभाअजमेर (राज0)
9. स्वाध्याय (प्र.भाग), विरजानन्द वैदिक संस्थान (ज्वालापुर)
10. वैदिक पदानुक्रम कोश, विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर (पञ्जाब)
11. मनुस्मृति, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट
12. ब्राह्मणोद्धार कोष, विश्वेश्वरानन्द शो.सं.
13. शुक्लयजुर्वेद संहिता, चतुर्थ संस्करण, स्वाध्याय मण्डल पारड़ी
14. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका (स्वा. दयानन्द) आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली
15. स्वाध्याय मण्डल पारडी द्वारा सम्पादित तैत्तिरीय, मैत्रायणी आदि संहितायें।
16. वेदमीमांसा, स्वा. विद्यानन्द, विजय कुमार, गोविन्दराम हासानन्द, नई दिल्ली

"भारत-राष्ट्र के उच्चतम जीवनादर्शों की अमूल्य सम्पदा: वाल्मीकि रामायण"

डॉ. सत्यदेव निगमालङ्कार
रीडर, श्रद्धानन्द वैदिक शोध संस्थान,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वैदिक कविता के उपरान्त लौकिक संस्कृत कविता का प्रारम्भ वाल्मीकि-रामायण से माना जाता है। अत: इसे संस्कृत-साहित्य का आदिकाव्य कहा गया है[1]। यह एक ऐसा इतिहास-काव्य है, जो भारतीय विरासत का मेरुदण्ड है। इस काव्य के अनुशीलन के बिना भारतीय इतिहास, सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परा की सही समझ पैदा नहीं हो सकती है। महाकवि वाल्मीकि हमारी जातीय अस्मिता तथा राष्ट्रीय अभीप्सा से प्रखर भास्वरता में पहचान कराते हैं। वे हमारी उन ऊँचाइयों का स्पर्श कराते हैं, उन गहराइयों में गोता लगवा कर मोती प्राप्त करवाते हैं और उन आस-पास की सच्चाइयों से सम्बन्ध स्थापित करवाते हैं जो बाद के भारतीय साहित्य के सर्वोच्च रचनाकारों के लिए भी अगम्य रही हैं। वे अनेक युगों से सञ्चित स्मृति और मिथक की धरोहर के एक विराट् प्रतिभा की सर्जनाशक्ति के ताप को जीवन्त प्रक्रिया का साक्षी बनाकर भारत की सम्पदा को विश्व में आने वाली अनेकानेक परीक्षाओं के समक्ष उपस्थित करते हैं। विश्व की संस्कृति के सामने भारत की संस्कृति को **'सा प्रथमा संस्कृतिः विश्ववारा'** के रूप में दर्शाने वाले महाकवि वाल्मीकि भारतीय जनमानस के लिए अभिनन्दनीय हैं, वन्दनीय हैं, अर्चनीय हैं और समादरणीय हैं। वैदिक संस्कृति का विस्तार स्वलौकिक काव्य में अवतरित कर उन्होंने वेद के उन रहस्यों को वे चाहे पारिवारिक रहे हों या सामाजिक हों, धार्मिक रहे हों या आध्यात्मिक हों, राजनैतिक रहे हों अथवा वैज्ञानिक हों सभी को लोकभाषा में व्यवहृत शब्दों के माध्यम से सहजता की क्षति किये बिना ही अकल्पित सामर्थ्य से उपस्थापित किये हैं। भारत की गौरवगाथा ज्ञान और विज्ञान, लोक तथा परलोक सभी का सामञ्जस्य महाकवि वाल्मीकि के आदिकाव्य रामायण में दृष्टिगत होता है।

भ्रातृस्नेह का अप्रतिम उदाहरण विश्व के इतिहास में रामायण जैसा कहाँ होगा? **मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्**[2], भाई भाई से द्वेष न करे-इस मन्त्रांश को जीवन में चरितार्थ करने वाले राम और भरत जैसे भाई किस इतिहास के पन्नों पर अंकित हैं? मातुलगृह से आकर राम का वनगमन सुनकर और उसमें माता कैकेयी को कारण समझकर उसे धिक्कारते हुए कहते हैं-

दु:खे मे दु:खमकरोर्व्रणे क्षारमिवाददा:। राजानं प्रेतभावस्थं कृत्वा रामं च तापसम्।।
कुलस्यास्य त्वमभावाय कालरात्रिरिवागता।। अयो0 73,3,4

भरत भाई राम की खोज में घर से वन को प्रस्थान करते हैं। मार्ग में एक स्थान पर गंगा के किनारे इङ्गुदिवृक्ष के नीचे घास पर राम के रात बिताने सम्बन्धी चर्चा को सुनकर विलाप करते हैं-

हा हतोऽस्मि नृशंसोऽस्मि यत् सभार्यः कृते मम्। ईदृशीं राघवः शय्यामधिशेते ह्यनाथवत्॥ अयो0 88,17

अति प्रयास करने पर भी जब राम अयोध्या नहीं लौटते हैं तब विवश हो राम की पादुकाएं प्रतिनिधिरूप में लेकर स्वयं वानप्रस्थी का रूप धारण कर नन्दिग्राम में 14 वर्ष व्यतीत करने की प्रतिज्ञा भरत करते हैं-

स पादुके संप्रणम्य रामं वचनमब्रवीत्।चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरो ह्यहम्।।फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन। तवागमनमाकांक्षन् वसन् वै नगराद्बहिः। तव पादुकयोर्न्यस्य राजतन्त्रं परन्तप।चतुर्दशे हि सम्पूर्णे वर्षेऽहनि रघूत्तम। न द्रक्ष्यामि यदि त्वां तु प्रवेक्ष्यामि हुताशनम्॥ अयो0 112,23-25

भरत का आदर्श महान् है, राम ने राज्य का त्याग और वनवास पिता के वचनों के पालनार्थ लिया किन्तु भरत ने राज्यश्री का त्याग और नन्दिग्राम में निवास किया ज्येष्ठानुवृत्तिधर्म एवं मर्यादा के पालनार्थ। एवं भरत का त्याग राम के त्याग से कम नहीं है। भरत के सम्बन्ध में राम के वचन वन्दनीय हैं, जहाँ राम सुग्रीव से कहते हैं कि भरत जैसे भाई सभी नहीं होते हैं-

न भ्रातरस्तात भवन्ति भरतोपमाः॥ युद्ध 18,15

लक्ष्मण का आदर्श विश्व के इतिहास में अनुपमेय है। भाई राम की सेवा करने के लिए स्वेच्छा से उनके साथ वनवास ग्रहण करते हैं। भाई राम के बदले कबन्ध राक्षस के साथ युद्धकाल में वे स्वयं मरना पसन्द करते हैं-

मां हि भूतबलिं दत्वा पालयस्व यथासुखम्। अधिगन्तासि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः। प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम्। तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुमर्हसि सर्वदा। अरण्य0 69, 39-40

करुणाजनक यह आदर्श जहाँ इतिहास के स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है वहां चरित्र का ऐसा प्रमाण किस देश के इतिहास में मिल पायेगा-

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले। नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥ किष्कि0 5, 22

लक्ष्मण के सदाचार को सीता हनुमान् के समक्ष निम्न शब्दों से कहती है-

पितृवद् वर्तते रामे मातृवन्मां तथैव च॥ (सुन्दर का 3,50)

स्त्री के प्रति लक्ष्मण की अवाङ्मुखता तारा नाम की बालि-पत्नी को देखकर भी प्राप्ति होती है :-

स तां समीक्ष्यैव हरीशपत्नीं तस्थावुदासीनतया महात्मा। अवाङ्मुखोऽभून्मनुजेन्द्रपुत्रः

स्त्रीसन्निकर्षाद्विनिवृत्तकोपः॥ कि0 33,39

अपनी पत्नी को छोड़कर लक्ष्मण का राम के साथ चल पड़ना उसके पूर्ण वैराग्य और संयमशीलता को तो दर्शाता ही है, किन्तु वह अनेक स्थलों पर राम को भी वैराग्य अर्थात् संसार की अस्थिरता का उपदेश देता है-

स्मृत्वा वियोगजं दुःखं त्यज स्नेहं प्रिये जने। अतिस्नेहपरिष्वङ्गाद् वर्तिराद्रापि दह्यते॥ (कि0 1,118) **स चिन्तया दुःसहया परीतं विसंज्ञमेकं विजने तपस्वी। भ्रातुर्विशादात्त्वरितोऽतिदीनः समीक्ष्य सौमित्रिरुवाच रामम्॥ किमार्य कामस्य वशङ्गतेन किमात्मपौरुष्यपराभवेन। अयं ह्रिया संह्रियते समाधिः किमत्र योगेन निवर्ततेन॥ क्रियाभियोगं मनसः प्रसादं समाधियोगानुगतं च कालम्। सहायसामर्थ्यमदीनसत्त्वः स्वकर्महेतुं च कुरुष्व तात॥** (कि0 15-17)

एवं लक्ष्मण का उदात्त चरित्र अनेक दृष्टियों से राम से न्यून नहीं है। संसार की समस्त नारियों में सीता का चरित्र अति उत्तम है जो पति के सुख-दुःख में अपना सुख-दुःख मानती है। इसीलिए राम के वनवास जाते समय वे कहती हैं-

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान्॥
अयो0 27,7

वन के कष्टों को राम द्वारा बताने पर भी सीता उन्हीं के साथ जाने की ठान लेती है-

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति। गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेह पुरस्कृतान्॥ अयो0 29,2, **कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः। तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया॥** अयो0 30,12

रावण के निन्दित अभिप्राय को सुनकर सीता का सटीक उत्तर दर्शनीय है-

शक्या लौभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा। अनन्या राघवेणाहं भास्करेण प्रभा यथा॥ उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम्। कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित्॥ अहमौपायिकी भार्या तस्यैव वसुधापतेः। व्रतस्नातस्य धीरस्य विद्येव विदितात्मनः॥ सुन्दर० २१,१५-१६ त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम्। नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा॥ अर० ४७,३६ तथाहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी दृढव्रता। त्वया स्प्रष्टुं न शक्याहं रक्षसा धर्मपापिना॥
अर0 59,19

धर्मतत्त्व जानने वाली सीता ने अवसर आने पर राम को भी उपदेश दे दिया-

अपराधं विना हन्तुं लोकान् वीर न कामये। क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु नियतात्मनाम्॥
धनुषा कार्यमेतावदार्तानामभिरक्षणम्। क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ॥
आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः। प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम्॥ नित्यं

शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने॥ अरण्य० ९,२५,२६,५१

एवं रामायण की सीता विश्व की नारियों के लिए अनुकरणीया हैं। राजा दशरथ धार्मिक थे, अतः उनके राज्य में प्रजा प्रसन्न थी-

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः। निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः॥ न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्। नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः॥ न चाग्निजं भयं किञ्चिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः। न वातजं भयं किञ्चिन्नापि ज्वरकृतं तथा॥ न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा। नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च। नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा॥ बाल० १,८९-९२

दशरथ के सम्बन्ध में तीन विवाह करने का आक्षेप लगाया जाता है, जो वस्तुतः निराधार है। यतोहि राजधर्म प्रतिपादक शास्त्रों में वंशच्छेदन अवस्था में अनेक विवाह का विधान है[3]। दशरथ ने भी ये विवाह इसीलिए किये-

सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकरःसुतः॥ बाल० ८,९

राम की माता कौशल्या प्राणायाम, सन्ध्या हवन किया करती थी और परमात्मा का ध्यान भी करती थी-

प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्॥ अयो० ४,३३

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।

अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला॥ अयो० २०,१५

प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम्।

ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम्॥ अयो० २०,१६

तस्मिन् कालेऽपि कौशल्या तस्थावामीलितेक्षणा॥ अयो० ४,३२

भारतीय परम्परा में ज्येष्ठ भ्राता का अनुकारी होना भी श्रेयस्कर है। अतः सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न को सदा यही शिक्षा दी -

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने। रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥ व्यसनी वा समृद्धो वा गतिरेष तवानघ। एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत्॥ इदं हि वृत्तमुचितं कुलस्यास्य सनातनम्। दानं दीक्षा च यज्ञेषु तनुत्यागो मृधेषु हि॥ रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्। अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥ अयो० ४०,५-७,९

वाल्मीकि रामायण का रावण वर्तमानकाल के अनेक राजाओं, प्रधानमन्त्रियों, राष्ट्रपतियों तथा सभाध्यक्षों से उत्तम है। वह वेदविद्याव्रतस्नातक, स्वकर्मपरायण[4], आर्यपुत्र[5], स्त्री के सम्मुख

नीचा शिर करके बात करने वाला[6] तथा स्वमर्यादापालक[7] है। राम भी उसकी प्रशंसा करते हैं-

अहो रूपमहो धैर्यमहो कान्तिरहो द्युतिः। अहो राक्षसराजस्य सर्वलक्षणयुक्तता।।
यद्यधर्मो न बलवान् स्यादयं राक्षसेश्वरः। स्यादयं सुरलोकस्य सशक्रस्यापि रक्षिता।।
सु० ४९,१८

मय ने उसमें ऋषित्व देखकर अपनी पुत्री मन्दोदरी से उसका विवाह करवाया था-

एवमुक्तस्तदा राम राक्षसेन्द्रेण दानवः। महर्षेस्तनयं बाला मयोहर्षमुपागतः।।
कन्या मन्दोदरी नाम पत्न्यर्थं प्रतिगृह्यताम्।। **उत्तर० १५,१६-१८**

लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी जिस राम की पूजा इस भारत देश के एक छोटे से गांव में बैठा मजदूर और आलीशान अट्टालिका में रमण करने वाला व्यापारी भी करता है, वह राम वेदवेदाङ्गों के तत्त्व को जानने वाला[8], सर्वविद्याव्रतस्नातक[9], क्षमाशील, तपस्वी, त्यागी, सत्यवक्ता, धार्मिक, कृतज्ञ, प्राणियों के लिए दयालु, पिता की आज्ञा का पालनकार्त्ता[11], उदार[12], आस्तिक, निश्चयात्मक[13], शरणागत को अभयदान दाता[14], है। राम का राज्य शिक्षा, चिकित्सा और न्याय की प्रतिमूर्ति था-

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम्। न व्याधिजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति।।
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत्। न च स्म वृद्धबालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते।।
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्म परोऽभवत्। राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम्।।
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः। निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति।।
यु०१२८,९८-१०१

यद्यपि वाल्मीकि रामायण में अनेकों पात्र हैं जिन पर प्रत्येक भारतवासी को गर्व है, हमने दिक्दर्शनार्थ कतिपय ही उद्धृत किये हैं।

रामायण के अनेकशः स्थल एवं प्रकरण एवंविध हैं जिन्हें हम भारत के जीवनादर्शों की अमूल्य सम्पदा कह सकते हैं। रामायण के काल में इस देश में चूने अथवा सफेद सीमेन्ट के मकान बनाये जाते थे जो आजकल बनाये जाने वाले भवनों से भी बहुत ऊँचे होते थे-

शुक्लैः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः।। **कि०३३,१५**
आरूरोह ततः श्रीमान् प्रासादं हिमपाण्डुरम्।। **यु०२६,५**
कृतानि वेश्मानि च पाण्डुराणि।। **सु० ८,१०**

मणियों से जड़े हुए महल, सात आठ मंजिल वाले महल और सहस्रखम्बों वाले महल की चर्चा रामायण में प्राप्त होती है-

मणिस्फटिकमुक्ताभिर्मणिकुट्टिमभूषितैः॥सु० ३,९

सप्तभौमाष्टभौमैश्च स ददर्श महापुरीम्।

तलैः स्फटिकसंकीर्णैः॥ सु० ३,५३

यस्यां स्तम्भसहस्रेण प्रासादः समलंकृतः॥यु० ३९,२३

लताओं से घिरे हुए घर, चित्रों से निर्मित घर, पुष्पों से अलंकृत घर, क्रीड़ा करने हेतु घर, तथा घरों के अन्दर अनेक घरों की चर्चा रामायण में की गयी है[15], भूतल में घरों के निर्माणकला का उच्चतम आविष्कार की चर्चा आज हम प्रारम्भ करने जा रहे हैं किन्तु रामायणकाल में यह अति परिष्कृत रूप धारण कर चुकी थी-

अथ प्रतिसमादिष्टो लक्ष्मणः परवीरहा। प्रविवेश गुहां रम्यां किष्किन्धां रामशासनात्॥

स तां रत्नमयीं दिव्यां श्रीमान् पुष्पितकाननाम्। रम्यां रत्नसमाकीर्णां ददर्श महतीं गुहाम्॥

हर्म्यप्रासाद संबाधां नानापथोपशोभिताम्। सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभिताम्॥ कि० ३३,१-५

हैदराबाद दक्षिण में प्राचीनकालीन एलोरा एजेण्टा की गुफाएं भी इसी प्राचीन कला का उदाहरण हैं जिसकी चित्रकारिता पर विश्व मुग्ध है। उस समय में महाबुद्धिमान् इञ्जीनियर भी होते थे। इञ्जीनियर को ब्रह्मा के नाम से जाना जाता था। उनमें से नल, मय, ऋषभ, नील, कुमुद-इनकी चर्चा नामशः प्राप्त होती है, इनमें नल विश्वकर्मा का पुत्र था। जिस विश्वकर्मा ने लङ्का की रचना की थी-

नलश्चक्रे महासेतुं मध्ये नदनदीपतेः॥ यु० २२,६२

तानि प्रयत्नाभिसमाहितानि मयेन साक्षादिव निर्मितानि॥ सु० ६,४

पुरस्ताद् ऋषभो नीलो वीरः कुमुद एव च।

पन्थानं शोधयन्ति स्म वानरैर्बहुभिः सह॥ यु० ४,३२

विश्वकर्मसुतो वीरो नलः प्लवगसत्तमः॥ यु० ३०,३४

लङ्कामीक्षस्व वैदेहि निर्मितां विश्वकर्मणा॥ यु० १२७,३

भूतल के अन्दर जहाँ नगर प्राप्त होने की चर्चा है वहाँ भूतलपुष्पवाटिका का वर्णन उस समय के निर्माण कला का अनुपम उदाहरण है-

इत्युक्तास्तद्बिलं सर्वे विविशुस्तिमिरावृतम्। अचन्द्रसूर्यं हरयो ददृशू रोमहर्षणम्॥

ततस्ते देशमागम्य सौम्या वितिमिरं वनम्।

ददृशुः काञ्चनान् वृक्षान् दीप्तवैश्वानरप्रभान्॥ कि० ५०,१७,२४

रामायण में विभिन्न प्रकार के आयुधों, शस्त्रास्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है। शतघ्नी जिसे

आजकल तोप कहा जाता है उससे अयोध्या चारों ओर से रक्षित थी-

सर्वयन्त्रायुधवती....। शतघ्नीशतसंकुलाम्....। **बाल० ५,१०,११**

बड़े बड़े पर्वतों को तोड़ने में समर्थ अस्त्र लक्ष्मण के पास थे। जिन्हें 'नाराच' कहा जाता था। ये नाराच अस्त्र स्फोटक बम जैसे रहे होगें जिनसे वर्तमान में पर्वत को तोड़ा जाता है-

लक्ष्मणस्य च नाराचा बहवः सन्ति तद्विधाः।
वज्राग्निसमस्पर्शा गिरीणामपि दारकाः।। **कि०५४,१५**

राम के पास रौद्रास्त्र था, जिसके प्रयोग करने से आंखों से आंसू बहने लगते थे और शत्रूपक्ष को दीखना बन्द हो जाता था। जिसे आजकल आंसूगैस भी कहा जा रहा है-

रौद्रेण कश्चिदस्त्रेण रामेण निहतं रणे।। **सु० ३६,२७**
अथ दाशरथी रामो रौद्रमस्त्रं प्रयोजयन्।। **यु० ६७,११८**

फेंके जानेवाले प्रयोग का नाम अस्त्र है। विषवायु फेंकने वाले अस्त्र को वायव्यास्त्र, वरुणभाव धुन्धलापन धुँआं फेंकने वाले अस्त्र को वारुणास्त्र, अग्नि फेंकने वाले अस्त्र को आग्नेयास्त्र, रुलानेवाले अस्त्र को रौद्रास्त्र करते हैं। उस समय ये सब अस्त्र विद्यमान थे-

ब्राह्ममस्त्रं च रौद्रं च वायव्यं वारुणं तथा।। सु० ५९, १०

रावण के हाथ से छुटा हुआ विद्युत् की तरङ्ग से घिरा हुआ आठ दीप्त बमों वाला महानादकारी अस्त्र आकाश में चमका-

तद्रावणकरान्मुक्तं विद्युन्मालासमाहतम्।
अष्टघण्टं महानादं वियद्गतमशोभत।। **यु० १२,६१**

उस काल में इस प्रकार के बाण महारथियों के पास थे कि शत्रु पर प्रहार कर पुनः वापस आ जाया करते थे-

सायकस्तु मुहूर्तेन तालान् भित्वा महाजवः।
निष्पत्य च पुनस्तूणं तमेव प्रविवेश ह।। **कि० १२,४**
तं समुत्सृज्य सा शक्तिः सौमित्रिं युधि निर्जितम्।
रावणस्य रथे तस्मिन् स्थानं पुनरुपागमत।। **यु० ५९,१२१**

रामायण काल में हस्तशिल्प की स्थिति बहुत ऊँची थी। दान्त बनाने वाले लोग, शरीर को सुन्दर रूप देनेवाले तथा इत्र का निर्माण करने वाले लोग भी थे-

दन्तकाराः सुधाकारा ये च गन्धोपजीविनः।। **अयो० ८४,१३**

अंगों को सुन्दर रंग देने वाला पालिश का वर्णन भी प्राप्त होता है-

अङ्गरागं च वैदेहि महार्हमनुलेपनम्। मया दत्तमिदं सीते तव गात्राणि शोभयेत्।। अयो० ११८,१८-१९

अनेक शलाकालों वाला छाता तथा सूक्ष्म शलाकाओं वाला छाता धूप और वर्षा से बचाने हेतु प्रयोग किया जाता था-

इदुं बहुशलाकं ते पूर्णचन्द्रमिवोदितम्।

छत्रं सबालव्यजनं प्रतीच्छस्व मया धृतम्।। कि० १०,३

यत्रैतदिन्दुप्रतिमं विभाति च्छत्रं सितं सूक्ष्मशलाकमग्र्यचम्।। यु० ५९,२४

स्फटिक मणियों एवं स्वर्ण के वर्तनों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में होता था-

हिरण्मयैश्च विविधैर्भाजनैः स्फटिकैरपि।। सु० ११,२१

गृहं मणिभाजनसंकुलं च।। सु० १,३६

नाचते हुए भौरों के पंखों में वायु से उठे धुओं को स्फटिक के गवाक्षों की उपमा देने से ज्ञात होता है कि स्फटिक के गवाक्षों का उस समय प्रकाशार्थ प्रयोग किया जाता था-

अमी मयूराः शोभन्ते प्रनृत्यन्तस्ततस्ततः। स्वैःपक्षैः पवनोद्धूतैर्गवाक्षैः स्फटिकैरिव।। कि० १,२६

रात को प्रकाशार्थ बड़े-बड़े हण्डे और बिजली के तीव्र प्रकाश का उपयोग किया जाता था-

तां नष्टतिमिरां दीपैर्भास्वरैश्च महाग्रहैः। दीप्तैर्भास्वरैश्च महागृहैः।

नगरीं राक्षसेन्द्रस्य ददर्श स महाकपिः।। सु० ३,१९

सोने के रंग चढ़े विमान और चान्दी के रंग चढ़े घर उस समय में थे-

काञ्चनानि विमानानि राजतानि गृहाणि च।। कि० ५१,५

विमानं सर्वतो रजतप्रभम्।। सु० १२१,२४

यही नहीं सोने चाँदी के पलंग भी उस समय थे-

हैमराजपर्यंकैर्बहुभिश्च वरासनैः।। सु० ३३,२०

व्यक्ति के नाम की अंगूठी आदि स्वर्णाभूषणों में अंकित करने की कला हो चुकी थी।

रामनामाङ्कितं चेदं पश्य देव्यङ्गुलीयकम्।। सु० ३६,२५

रामायणकाल में कृत्रिम मृग, किसी भी व्यक्ति को कृत्रिम शिर तथा कृत्रिम संपूर्ण शरीर तक बनाने की अद्भुत कला तैयार हो चुकी थी-

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतविन्दुभिः। आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर॥
अर० ३५,१८

दीप्तजिह्वो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो महाबलः। व्यचरं दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः॥
अर० ३९,९

मोहयिष्यावहे सीतां मायया जनकात्मजाम्। शिरो मायामयं गृह्य राघवस्य निशाचर।
मां त्वमुपतिष्ठस्व महच्च सशरं धनुः॥ **यु० ३१,८**
इन्द्रजित्तु रथे स्थाप्य सीतां मायामयीं तदा। बलेन महतावृत्य तस्या वधमरोचयत्॥
यु० ८१,५

रामायण में यन्त्रों एवं यन्त्रयानों का अनेकत्र वर्णन मिलता है[16], किन्तु हाथी के समान विशाल प्रस्तरखण्ड़ों को एवं पर्वत चट्टानों को उठाकर पुल बनाने वाले यन्त्र भी तत्काल बन चुके थे-

हस्तिमात्रान् महाकायाः पाषाणांश्च महाबलाः। पर्वतांश्च समुत्पाट्य यन्त्रैः परिवहन्ति च॥
यु० २२,२९

जैसे आजकल विद्युत्सोपान का प्रयोग ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं पर गमनागमनार्थ किया जाता है, ऐसे ही यन्त्र का वर्णन रामायण में प्राप्त होता है-

निमलियत चक्षूंषि सर्वे वानरपुङ्गवाः। नहि निष्क्रमितुं शक्यमनिमीलितलोचनैः॥ ततो निमीलिताः सर्वे सुकुमाराङ्गुलैः करैः। सहसाऽपि दधुर्दृष्टिं हृष्टा गमनकांक्षया। वानरास्तु महात्मानो हस्तरुद्धमुखास्तदा। निमेषान्तरमात्रेण बिलादुत्तारितास्तया। **कि० ५२,२५-२९**

रावण के पास सहस्त्रखरों से युक्त मेघ के समान गर्जन ध्वनि कारक यान था-

सहस्त्रखरसंयुक्तो रथो मेघसमस्वनः। **यु० ६८/४**

श्लोक में सहस्रखरों (गधों) से युक्त रथ का वर्णन है। किन्तु एक रथ में हजारों गधे कैसे जोड़े जा सकते हैं? यदि कहां जाये कि वेग से रथ को चलाने के लिए तब तो गधों की जगह घोड़े जोड़े जाने चाहिए, गधे घोड़ों से अधिक वेगवान् नहीं हो सकते। परन्तु इस 'खरः' पद का नाम उत्तर निघण्टु के माध्यम से हमें प्राप्त होता है। 'अश्विनोः खराः[17]' अर्थात् **'अश्विनौ'** के उपयोजन खर हैं। निरुक्तकार ने अश्विनौ के लिए लिखा है-

ज्योतिषाऽन्यः रसेनान्यः।

इसका भाव है कि एक ज्योतिर्मय है, दूसरा रसमय है। हमारे विचार से ज्यातिर्मय का अर्थ अग्नि है और रसमय का अर्थ पानी है। ज्योति विद्युत् है रसमय वायु या वायव्य सम्पादक पदार्थ

तैल (पैट्रोल आदि) भी हो सकता है अथवा विद्युत् के धन-ऋण भेद भी कह सकते हैं। रामायण भी स्वयं इसका प्रमाण है जहां एक सूखी विद्युत् का वर्णन है और आर्द्र विद्युत् का भी-

अशनी द्वे प्रयच्छामि शुष्कार्द्रे रघुनन्दन॥ बा० २७,९

यहाँ विश्वामित्र राम को शुष्क और आर्द्र दो प्रकार की विद्युत् देते हैं। 'खर' का अर्थ भी 'अग्नि' और जल की सम्मिलित शक्तियाँ अथवा विद्युत् और वायव्य सम्पादक तैल के सम्मिलित वेग को कहा जा सकता है। रावण का यान इन्हीं उभयविध शक्तिपुञ्जों से गति करता था।

रामायण में आकाशमार्ग में गमन करने वाले विमान का वर्णन अनेकत्र आता है, जो विमान मणिरत्नों से जडित, स्वर्णतारों की जालियों से युक्त तथा एक घण्टे में अढ़ाई सौ मील की यात्रा अनेकजनों को लेकर गति करता था-

कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम्। विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः॥
अर० ३१,१४

यस्य तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम्। वीर्यादावर्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्॥
अर० ४८,६

स तस्य मध्ये भवनस्य संस्थितो महद्विमानं मणिरत्नचित्रितम्। प्रतप्तजाम्बूनदजालकृत्रिमं ददर्श धीमान् पवनात्मजः कपिः॥ तदप्रमेयप्रतीकारकृत्रिमं कृतं स्वयं साध्विति विश्वकर्मणा। दिवं गते वायुपथे प्रतिष्ठितं व्यराजतादित्यपथस्य लक्ष्मवत्॥
स पुष्पकं तत्र विमानमुत्तमं ददर्श तद्वानरवीरसत्तमः॥ सु० ८,१-२,८
जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फटिकैरपि॥ सु० ९,१६
अन्हां त्वां प्रापयिष्यामि तां पुरां पार्थिवात्मज। पुष्पकं नाम भद्रं ते विमानं सूर्यसन्निभम्॥
यु० १२१,८-९

मूर्दे को ज्यों का त्यो बनाएं रखने की विद्या उस समय प्रचलित थी महाराज दशरथ का मृत शरीर तैल से भरे कढ़ाए में रख दिया गया था। आजकल बर्फ की सील्लियाँ लगाई जाती है।

बालस्य च शरीरं तत्तैलद्रोण्यां निधापय। गन्धैश्च परमोदरैस्तैलैश्च सुसुगन्धिभिः॥
यथा न क्षीयते बालस्तथा सौम्य विधीयताम्। विपत्तिः परिभेदो वा न भवेच्च्य तथा कुरु॥
उत्तर० ७५,२-४

प्रातः सन्ध्या हवन करना धार्मिक कृत्य माना जाता था[18]। स्त्रियों को सन्ध्या यज्ञादि का समान अधिकार पुरुषों के समान था[19]। यज्ञ में दीक्षा ग्रहण करने का भी स्त्री को अधिकार था[20]। स्त्री जैसे पतिव्रत धर्म का पालन करती है, पुरुष भी तद्वत् पत्नीव्रत धर्म का पालन करने में गौरव का अनुभव करते थे[21]। सत्य का आचरण करना परम-धर्म समझा जाता था[22]। जड़ पदार्थो से अज्ञों

की तरह सीता को पूछना राम को ईश्वर का अवतार ज्ञापित नहीं करता है-

अस्ति कच्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया। कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम्।।
अरण्य० ६०,१२

राम यदि ईश्वर का अवतार होते तो सुग्रीव सदृश मनुष्य राम को दुःखी देखकर उन्हें सान्त्वना न देता-

किं त्वया तप्यते वीर यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा।। यु० २,२

रामतो स्वयं स्वर्ग की इच्छा रखते हुए कहते हैं-

करिष्यामि यथार्थं तु काण्डोर्वचनमुत्तमम्। धर्मिष्ठं च यशस्यं च स्वर्ग्यं स्यात्तु फलोदयम्।।
यु० १-८,३२

वे स्वयं लक्ष्मण के पीछे यमलोक में प्रस्थान करने की बात करते हैं-

यथैव मां वनं यान्तमनुयातो महाद्युतिः। अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्।।
यु० ४९,१८

राम संसार को विधाता की रचना मानते हैं-

लोको हि सर्वो विहितो विधात्रा।। कि० २४,४५

एवं वाल्मीकि राम को महान् पुरुष के रूप में समाज के सामने उपस्थित करते हैं जिससे राम का जीवन अधिक आदरणीय बन जाता है।

मित्रता का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हाथ से हाथ मिलाने की परम्परा लोगों में प्रचलित थी-

रोचते यदि ते सख्यं बाहुरेष प्रसारितः। गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा।।
कि०५,१२

एतत्तु वचनं श्रुत्वा सुग्रीवस्य सुभाषितम्। सम्प्रहृष्टमना हस्तं पीडयामास पाणिना।।
कि० ५,१३

मित्रता का भाव जताने के लिए भी 'नमस्ते' पद का प्रयोग किया जाता था-

नमस्तेऽस्तु गमिष्यामि मैत्रेणेक्षस्व चक्षुषा।। अयो० ५२,१७

शासक को शिर झुकाकर 'नमस्ते' पद का प्रयोग होता था-

राक्षसा राक्षसश्रेष्ठं शिरोभिस्तं ववन्दिरे।। यु० ११,१३

रामायणकाल में स्त्री और जुए में फंसना तथा कामक्रोध के वशीभूत हो जाना पाप समझा

जाता था[23]। कर्मचारियों को भत्ता और वेतन समय पर देने की परिपाटी प्रचलित थी[24]। रामायणकाल से आजतक भारत के ग्रामीण आंचल में 'मेहतर' पद का प्रयोग उसी रूप में होता चला आ रहा है[25]। पानी छिड़कने वाले को उस समय में विष्टी कहा जाता था, जिसे आज भी 'भिश्ती' के नाम से हम जानते है[26]। उस समय के दो मुहावरे आज भी जनभाषा में यथावत् प्रचलित हैं। प्रथमत: आंसू पोछने का मुहावरा उस समय में भी था जो अब भी है। खर ने राम को कहा-

त्वद्विनाशात्करोम्यद्य तेषामश्रुप्रमार्जनम्।। अर० २९,२४

दूसरा मुहावरा किसी को लघुतम दिखाने के लिए उसे केवल भोजन में भी प्रातराश के योग्य ठहराना था- रावण सीता को कहता है-

शृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्वादश भामिनि।
कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि।।
ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशश:।। अर० ५६,२४-२५
मम त्वां प्रातराशार्थमालभन्ते महानसे।। सुन्दर० २२,९

स्वयं हेतु सीता हनुमान से कहती है-

ध्रुवं मां प्रातराशार्थं राक्षस: कल्पयिष्यति।। सुन्दर० २६,३६

दूत और गुप्तचर में भी भेद करना लोग जानते थे[27]। अपनी बात मनाने के लिए 'भूख हड़ताल' भी की जाती थी।[28]

रामायणकाल में विज्ञान यहाँ तक पहुँच गया था कि सूर्य के अन्दर काला धब्बा देखने का यन्त्र निर्मित हो चुका था[29]। जबकि आज तक हम उस विज्ञान तक नहीं पहुँच पाये हैं। सूर्य के आकार को स्पष्ट रूप से उस समय देखकर जाना गया था कि यह पृथिवी के समान ही विशाल है[30]। पृथिवी से चन्द्रमा की दूरी अस्सी हजार योजन अर्थात् 320000 कोश जो चार लाख मील दूर बैठती है, बतायी गयी है[31]। रामायण के अनुसार यह चार लाख मील दूर की लम्बाई दीर्घवृत की लम्बाई है।

रामायण के अध्ययन के उपरान्त हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि मनु महाराज ने पृथिवी पर रहने वाले सब मनुष्यों को जब आचरण की शिक्षा भारतीय जनों से ग्रहण करने को कहा था[32] वह कोई अतिशयोक्ति अथवा अनर्गल प्रलाप नहीं था। भारत के समीप रामायण काल में वह ज्ञान और विज्ञान, कर्म तथा उपासना पद्धति विद्यमान थी जिसकी आज विश्व अन्वेषण करने का प्रयास कर रहा है। प्रचुरता उन मानवों की और उन मानवमूल्यों की थी जिनकी कामना युगों युगों से सभ्य समाज करता आया है। समाज की गति धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-इस पुरुषार्थ चतुष्ट्य के प्रति विशेष रूप से थी। समस्त विश्व के समक्ष रहस्यमय विद्यास्रोतों को उद्घाटित करने वाला भारत राष्ट्र का

लौकिक आदिकाव्य रामायण किस बुद्धिजीवी के हृदय से वन्दनीय और अर्चनीय न होगा जो हमारा मस्तक संसार के सामने स्वाभिमान से खड़ा करने योग्य बनाता ही नहीं पूजनीय मनवाता है। जिसके एक एक चरित्रनायक की कथा अतुलनीया है। जिसका राम लाखों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी न केवल भारतीय अपितु धरातल पर रहने वाले प्रत्येक मानव के लिए पूजनीय एवं समादरणीय हैं। वह राम वस्तुत: अनुकरणीय है। अन्तत: वह रामायण अर्चनीय है जो लाखों वर्षों के भूत को और भारतीय स्वाभिमान को अपने अन्दर संजोये हुए है।।

प्रमाण तथा टिप्पणियाँ-

1.क. ऋषे, आद्य: कविरसि। आम्नायादन्यत्र नूतनश्छन्दसामवतार:। उत्तररामचरित अंक- 2

ख. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवे: पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थ:, शोक: श्लोकत्वमागत:।। ध्वन्यालोक 15

2. अथर्व0 3, 30, 3

3. मनु ने भी कहा है- वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशते तु मृतप्रजा। एकादशो स्त्रीजननी सद्यस्त्वप्रियवादिनी।। या रोगिणी स्यात्तु हिता सम्पन्ना चैव शीलत:। सानुज्ञाप्याधिवेत्तव्या नावमान्या च कर्हिचित्।। 9, 81-82

4. वेदविद्याव्रतस्नात: स्वकर्मनिरतस्तथा।
स्त्रिय: कस्माद् वधं वीर मन्यंसे राक्षसेश्वर।। सु0 92, 64

5. आर्य पुत्रैति वादिन्यो ह नाथेति च सर्वश:।। यु0 110,4

6. तामुवाच दशग्रीव: सीतां परमदु:खिताम्।
अवाक्शिरा प्रपतितो बहु मन्यस्व मामिति।। सु0 58, 67

7. एवं चैतदकामां त्वां न च स्प्रक्ष्यामि मैथिलि।। सु0 58, 67

8. वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञ:।। बाल0 1, 14
यस्मिन् न चलते धर्मो यो धर्मं नातिवर्तते।
यो ब्राह्ममस्त्रं वेद वेदान् वेदविदांवर:।। यु0 2,8

9. सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्।। अयो0 1, 20

10. क्षमा यस्मिंस्तपस्त्याग: सत्यं धर्मकृतज्ञता।
अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम।। अयो0 12, 33

11. एताभ्यां धर्म शीलाभ्यां वनं गच्छेति राघव।
मातापितृभ्यामुक्तोऽहं कथमन्यत्समाचरे।। अयो0 101, 22

12. या प्रीतिर्बहुमानश्च मय्ययोध्यानिवासिनाम्।
मत्प्रियार्थं विशेषेण भरते सा विधीयते।। अयो0 43, 7

13. आस्तिको धर्मशीलश्च व्यवसायी च राघवः।। कि0 27, 35

14. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीवो वा यदि वा रावणः स्वयम्।। यु0 18, 34

15. सु0 12, 1, 12, 13, 14

16. सर्वयन्त्रायुधवती।। बाल0 5, 10

17. निघं 1, 15

18. आश्वासितो लक्ष्मणेन रामः सन्ध्यामुपासत।। यु0 6, 23
प्रभातकाले चोत्थाय पूर्वां सन्ध्यामुपास्य च।
प्रशुचीं परमं प्राप्यं सः सदा नियमेन च।
हुताग्निहोत्रमासीनं विश्वामित्रमवन्दताम्।। बा0 29, 31-32

19. गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्।। अयो0 6, 1
सन्ध्यायमाना श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यायै वरवर्णिनी।। सु0 15, 49
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम्।। अयो0 4, 33
सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला।। अयो0

20. श्रीमान् सहपत्नीभिः राजा दीक्षामुपाविशत्।। बाल0 13, 41

21. मोघं हि धर्मश्चरितो मयायं तथैकपत्नीत्वमिदं निरर्थकम्।। सु0 28, 13

22. सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परम् पदम्।।
भूमिः कीर्तिर्यशो लक्ष्मीः पुरुषं प्रार्थयन्ति हि।
सत्यं समनुवर्तन्ते सत्यमेव भजेत तत्।। अयो0 109, 13, 22

23. सद्यः प्रसक्तो भवतु स्त्रीष्वक्षेषु च नित्यशः।
कामक्रोधाभिभूतश्च यस्सार्योऽनुमते गतः।। अयो0 75, 41

24. कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम्।
सम्प्राप्तकालं दातव्यं ददासि न विलम्बसे? अयो0 100, 33

25. रजकास्तन्तुवायाश्च ग्रामघोषमहत्तराः।। अयो0 84, 15

26. विष्टीरनेकसाहस्रीश्चोदयामास भागशः।। यु0 127, 5

27. नायं दूतो महाप्राज्ञः चारकः प्रतिभाति मे।। यु 20, 33

28. निराहारो निरालोको धनहीनो यथा द्विजः।
शेष्ये पुरस्ताच्छालाया यावन्न प्रतियास्यति।। अयो0 111, 13-14

29. आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते।। यु0 23, 1

30. यत्नेन महता भूयो भास्करः प्रतिलोकितः।
तुल्यपृथिवीप्रमाणेन भास्करः प्रतिभाति नौ।। कि0 61, 13

31. अशीतिं तु सहस्राणि योजनानां प्रमाणतः।
चन्द्रमास्तिष्ठते यत्र नक्षत्रसंग्रहसंयुतः।। उ0 23, 16

32. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्पृथिव्यां सर्वमानवाः।। मनु0 2, 20

आर्ष परम्परा और ऋषि दयानन्द

डॉ० ज्वलन्त कुमार शास्त्री
अध्यक्ष-स्नातकोत्तर संस्कृत विभाग
रणवीर रणञ्जय महाविद्यालय, अमेठी (उ.प्र.)
फोनः ०५३६८ - २२२००७

वेदार्थ की आर्ष-परम्पराः-

वेदार्थ के यथार्थ बोध का मार्ग ब्राह्मणग्रंथ और निरुक्त प्रशस्त करता है। विशेषतः दुरूह मंत्रगत पदों का तात्पर्य, व्याख्यान या निर्वचन निरुक्त साहित्य में मिलता है। महर्षि वेदव्यास ने लिखा है कि "यास्क ने नष्ट हुये निरुक्त शास्त्र का पुनरुद्धार किया"[1]। यास्क का निरुक्त वस्तुतः निघण्टु ग्रन्थ की व्याख्या या भाष्य है। निघण्टु वैदिक शब्द-कोष या वैदिक-पदों का संकलन है। इसमें 5 अध्याय हैं जिसमें 1768 वैदिक पद संगृहीत हैं। 1 से 3 अध्याय में पृथिवी, हिरण्य, मेघ, मनुष्य, अन्न, धन, गो, बहु ह्रस्व, प्रज्ञा, यज्ञ आदि 69 समानार्थक शब्दों का संकलन है। 4 अध्याय में कठिन या व्याख्येय 279 पद संगृहीत हैं। अध्याय 5 में देवतावाचक 151 शब्द संग्रथित हैं। निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने 14 निरुक्तकारों की चर्चा की है। दुर्भाग्य से आज एकमात्र यास्कीय निरुक्त ही उपलब्ध है। यास्क ने पूर्ववर्ती 12 निरुक्तकारों (आग्रायण, औपमन्यव, और्णवाभ, गार्ग्य, गालव, वार्ष्यायणि, शाकपूणि आदि) के मतों का यथास्थान उल्लेख किया है। वेदव्याख्या का नैरुक्तिकमार्ग आर्ष है और यह प्राचीन वेदार्थ परम्परा का संवाहक है। आध्यात्मिक, आत्मवादी, परिव्राजक, नैदान, पूर्वे याज्ञिक, याज्ञिक और आर्षमत आदि की चर्चा भी निरुक्त में मिलती है। वेदार्थ के ऐतिहासिक मत से यास्कादि ऋषि सहमत नहीं है[2]। वेदार्थ की आर्ष-परम्परा का पोषक ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य है। इसकी पुष्टि में ज्वलन्त प्रमाण प्रस्तुत है-

(1) निघण्टु (1/1) में पृथिवी के नामों में 'गोत्रा' पद पढ़ा गया है। सायण ने ऋग्वेद भाष्य में 'गोत्रा' पद का कहीं भी पृथिवी अर्थ नहीं किया है। फलतः देवराज यज्वा ने जब निघण्टु की टीका लिखी तो इस पद के सम्बन्ध में 'निगमोऽन्वेषणीयः' लिखकर विराम लगा दिया। 'निरुक्तालोचन' के कर्त्ता पं. सत्यव्रत सामश्रमी लिखते हैं - "**बहुमंत्रेषु श्रूयते गोत्रापदं, परं न तत् क्वापि पृथिवीपरमिति भावः। एवञ्च गोत्रेत्यस्य पृथिवीनामसु पाठः किं मुधैव। नो चेदवश्यं सायणादिव्याख्यातृणामेव तत्र तत्र मंत्रेषु व्याख्यागतं दूषणमूरीकार्यम्।**"

अर्थात् अनेक मंत्रों में श्रूयमान् 'गोत्रा' पद कहीं तो पृथिवीवाचक होना चाहिए। सायण भाष्य में यह मंत्रपद कहीं भी पृथिवी अर्थ में व्याख्यात न होने से सायणभाष्य का यह दूषण समझना चाहिए।"

यद्यपि स्वामी दयानन्द का ऋग्वेद भाष्य सप्तम मण्डल के 61वें सूक्त के 2रे मंत्र तक मिलता है। पुनरपि ऋग्वेद के 6/65/5 मंत्र[3] के भाष्य में स्वामी जी ने मंत्रान्तर्गत 'गोत्रा' पद का 'भूमि' अर्थ किया है -

"(गोत्रा) भूमिः। गोत्रेति पृथिवीनाम। निघं० १/१। (गोत्रा) पृथिवी के समान वा........॥

(ऋग्वेद 6/65/5 का दयानन्द भाष्य)।

(2) मन्त्रार्थ चिन्तन-विषयक ऊहापोह के संबंध में यास्क का अभिमत है कि मन्त्रार्थ चिन्तन श्रुति के अनुसार और तर्क के अनुसार होना चाहिए। प्रकरण से अलग करके मन्त्रों का निर्वचन नहीं करना चाहिए। इन मन्त्रों के अर्थ की प्रतीति उन सामान्य जनों को नहीं हो सकती जो ऋषि अर्थात् मन्त्रार्थद्रष्टा नहीं हैं या जो तप नहीं तपते हैं। यह भी समझना चाहिए कि विद्वानों में अधिक विद्यावान मनुष्य प्रशंसनीय हुआ करता है।" एक पुराना इतिहास बताते हुए यास्क कहते हैं- "ऋषियों के उठ जाने पर मनुष्य देवों से बोले कि हमारा कौन ऋषि होगा?, जो कि हमें वेदार्थ का दर्शन (बोध) करायेगा। तब उन मनुष्यों को देवों ने 'तर्क' रूपी ऋषि को दिया, जिसमें (तर्क में) मन्त्रार्थ-चिन्तन विषयक ऊहापोह था। इसलिए जो भी कुछ वेदज्ञ (अनूचान) मन्त्र-तत्त्व की खोज करता है, वह आर्ष (ऋषि कृत) ही है। अर्थात् वेद के अविरुद्ध तर्क से भूयोविद्य वेदज्ञ जिस तत्त्व की खोज करता है उसे ऋषि-दृष्ट-तत्त्व ही समझना चाहिए[4]। स्पष्टतः यास्क ने तर्क को ऋषि कहा है। परन्तु मध्यकालीन सायणादि आचार्य तथा आधुनिक मैक्डॉनल, पीटर्सन, विल्सन आदि वेदभाष्यकारों के वेदार्थों में मन्त्रपदस्थ 'ऋषि' का 'तर्क' अर्थ नहीं मिलेगा। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद 1/1/2 मन्त्र के भाष्य में 'ऋषिभिः' पद का अर्थ विकल्प से 'तर्कैः' भी किया है[5]।

(3) **चत्वारि वाक्यपरिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।**
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

(ऋ. 1/164/45)

इस मंत्र का अर्थ है- चार वाणी के परिमित (नपे तुले) पद हैं। उनको जो मनीषी ब्राह्मण हैं वे जानते हैं। उन चारों में से तीन गुहा में निहित (धरे हुये) हैं, इंगित (चेष्टित) नहीं होते। वाणी के चतुर्थ (चौथे) भाग को ही मनुष्य बोलते हैं।

इस मन्त्र के व्याख्यान में महाभाष्यकार पतञ्जलि लिखते हैं- **"चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च।"** अर्थात् वाणी के चार प्रकार के पद नाम आख्यात उपसर्ग और निपात हैं। महाभाष्यकार के इस व्याख्यान को टीकाकार नागेश स्पष्ट नहीं कर सके और उन्होंने परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूपी चार पदजात की चर्चा कर दी। यहाँ विचारणीय यह है कि भांष्यकार पतञ्जलि जब स्पष्ट रूप से नाम आख्यात उपसर्ग और निपात रूप चार पदों का ही ग्रहण

करते हैं, तब परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी रूप भेद की चर्चा भाष्यकारीय व्याख्यान में सर्वथा अप्रासंगिक है। वैसे इस मन्त्र के स्वतन्त्र व्याख्यान में परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप भेदों का ग्रहण हो सकता है, जैसा कि भट्टभास्कर मिश्र ने तैत्तिरीय संहिता (2/8/8) में स्वतन्त्र रूप में किया है।

ऋषि दयानन्द के इस मन्त्र (1/164/45) के व्याख्यान से महर्षि पतञ्जलि का पूर्वोक्त व्याख्यान स्पष्ट हो जाता है- "**विदुषामविदुषां चेयानेव भेदोऽस्ति-ये विद्वांस: सन्ति, ते नामाख्यातोपसर्गनिपातांश्चतुरो जानन्ति। तेषां त्रीणि ज्ञानस्थानानि सन्ति, चतुर्थं सिद्धं शब्दसमूहं प्रसिद्धे व्यवहारे वदन्ति। ये चाऽविद्वांसस्ते नामाख्यातोपसर्गनिपातान्न जानन्ति, किन्तु निपातरूपं साधनज्ञानरहितं सिद्धं शब्दं प्रयुञ्जते।**" अर्थात् - विद्वान् और अविद्वानों में इतना ही भेद है कि जो विद्वान् हैं वे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चारों को जानते हैं। उनमें से तीन ज्ञान में रहते हैं, चौथे सिद्ध शब्दसमूह को प्रसिद्ध व्यवहार में सब कहते (बोलते) हैं। और जो अविद्वान् हैं वे नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातों को नहीं जानते, किन्तु निपात रूप साधन-ज्ञान-रहित प्रसिद्ध शब्द का प्रयोग करते है। इस संबंध में पं. युधिष्ठिर मीमांसक की टिप्पणी अति महत्त्वपूर्ण है- "यहाँ स्वामी दयानन्द सरस्वती ने निपात का अर्थ वैयाकरणों का पारिभाषिक नहीं लिया। वे इसका अर्थ 'निपात्यन्ते इति निपाता:' अर्थात् रूढ़ा: = प्रकृतिप्रत्यय-विभाग-शून्य अर्थ स्वीकार करते हैं। इस प्रकार उनके मत में यौगिक = प्रकृति-प्रत्यय के विभाग से युक्त सिद्ध नाम = सुप् आदि विभक्तियुक्त, आख्यात = तिङादि विभक्तियुक्त, उपसर्ग धातु के साथ जुड़ा हुआ अंश, इन तीनों में प्रकृति-प्रत्ययकृत भिन्नता के कारण ये भेद बुद्धि में स्थित हैं, अर्थात् बौद्धिक हैं। अत: मनीषी ब्राह्मण वैयाकरण ही प्रकृति-प्रत्यय-संयुक्त रूप को देखते हैं। जनसाधारण तो "देवदत्त: ग्रामम् उपसर्पति" आदि सिद्ध रूपों का ही प्रयोग करते हैं। अर्थात् वे प्रकृति-प्रत्यय- विभाग-कल्पना पुरस्सर शब्दों का प्रयोग नहीं करते। रूढ़ शब्द का अर्थ है- अर्थविशेष में प्रयुज्यमान वर्णानुपूर्वी-विशिष्ट शब्द। निपात शब्द का रूढ़ अर्थ में प्रयोग स्वामी दयानन्द सरस्वती ने स्वीय उणादि वृत्ति में बहुत्र किया है। यथा - "**खष्पादय: पप्रत्ययान्ता निपाता:।**(3/28) **शुकादय: कप्रत्ययान्ता निपाता:।** (3/42)।

यहाँ 'निपाता:' का अर्थ 'रूढ़ा:' ही है। इस निपात शब्द में कर्म में घञ् प्रत्यय है। निपातन रूढ़ शब्दों का ही होता है, यौगिकों का नहीं। यह वैयाकरणप्रसिद्ध तत्त्व है"।

(4) महर्षि यास्क ने वाणी (वाक्) के पूर्वोक्त व्याकरण-सम्मत चार परिमित पदों से भिन्न मतों का भी विशद वर्णन "**चत्वारि वाक् परिमिता०**"(ऋ0 1/164/45) मन्त्र भाष्य में किया है- "**कतमानि तानि चत्वारि पदानि? ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपातश्चेति वैयाकरणा:। मन्त्र: कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिका: ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ता:। सर्पाणां वाग्दयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादा:।**" (निरुक्त-अध्याय-13)

अर्थात्- (1) ओंकार, भूः, भुवः, स्वः, (महाव्याहृतियाँ) यह ऋषियों का मत है। (2) नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात- यह वैयाकरणों का मत है। (3) मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण, व्यावहारिकी वाक् - यह याज्ञिकों का मत है। (4) ऋक्, यजुः, साम, व्यावहारिकी वाक् - यह नैरुक्तों का मत है। (5) सर्पो, पक्षियों, क्षुद्र सरीसृपों की वाक् तथा व्यावहारिकी वाक् - यह अन्य आचार्यो का मत है। (6) (ग्राम्य) पशुओं, (मुरली आदि) वाद्यों, मृगादि जंगली पशुओं और अपने आप में अर्थात् मनुष्यों में वर्तमान वाक् - यह आत्मवादियों का मत है।

वेदार्थ की यही शैली ऋषि दयानन्द के चत्वारि श्रृंङ्गा0[7] (ऋग्0 4/58/3) मन्त्र के भाष्य में दिखालाई पड़ती है। ज्ञातव्य है कि इस मंत्र का शब्दपरक व्याख्यान महाभाष्यकार पतञ्जलि ने तथा यज्ञपरक व्याख्यान महर्षि यास्क ने किया है। दयानन्दीय भाष्य में इन दोनों अर्थो के साथ-साथ दो और व्याख्यान मिलते है। ऋषि दयानन्द की आर्षप्रज्ञा "धर्म व्यवहार" और "सत्य कर्त्तव्य रूप" दो महान् देवों को मरणधर्मा मनुष्यों में व्याप्त और प्रविष्ट देखती है। वेदार्थ के द्रष्टा ऋषि दयानन्द की वेदव्याख्या का यह व्यावहारिक अर्थ है जो मनुष्यमात्र के लिए परम उपयोगी है। स्वामी दयानन्द सरस्वती लिखते हैं-

(चत्वारि श्रृङ्गाः) -

(1) चत्वारो वेदाः (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों वेद)।

(2) नामाख्यातोपसर्ग निपाताः (नाम आख्यात्, उपसर्ग और निपात रूप)।

(3) विश्वतैजसप्राज्ञतुरीय (विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय)।

(4) धर्मार्थकाममोक्षाश्च इत्यादि श्रृङ्गाणि इव (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इत्यादि श्रृंग के तुल्य)।

(त्रयः पादाः)-

(1) कर्मोपासानाज्ञानानि (तीन अर्थात् कर्म उपासना और ज्ञान रूप चलने योग्य पैर)।

(2) त्रीणि सवनानि (प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन, तृतीयसवन तीन सवन अर्थात् त्रैकालिक यज्ञ कर्म)।

(3) त्रयः कालाः (भूतभविष्यद्वर्तमानाः-व्याकरण शास्त्र में प्रसिद्ध भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल)।

(4) मनोवाक्शरीराणि चेत्यादीनि पादाः (मन, वाणी, शरीर इत्यादि पाद हैं)।

(द्वे शीर्षे)-

(1) (द्वे) अभ्युदयनिःश्रेयसे(शीर्षे) शिरसी इव (दो- उन्नति और मोक्ष रूप शिरस्थापन्न)।

(2) द्वौ व्यवहारपरमार्थो (दो व्यवहार और परमार्थ)।

(3) नित्यकार्यौ शब्दात्मानौ (नित्य और कार्य शब्दस्वरूप)।

(4) उदगयणप्रायनीयौ (उदगयन और प्रायणीय)।

(5) अध्यापकोपदेशकौ चेत्यादीनि शिरांसि (अध्यापक और उपदेशक इत्यादि शिर हैं)।

(6) धर्मयुक्तस्य नित्यनैमित्तिकस्य (धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक धर्म के [अर्थात्-नित्य धर्म तथा नैमित्तिक धर्म])।

(सप्त हस्तासः)-

(1) पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि अन्तःकरणमात्मा च हस्तवद्वर्त्तमानाः (पञ्चज्ञानेन्द्रियाँ, अन्तःकरण और आत्मा ये हाथ के समान वर्तमान)।

(2) पञ्चकर्मेन्द्रियाण्यन्तःकरणमात्मा च (पांच कर्मेन्द्रिय शरीर और आत्मा इत्यादि हस्त हैं)।

(3) गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि (गायत्री आदि सात छन्द)।

(4) सप्त विभक्तयः (व्याकरणसम्मत सात विभक्तियां)।

(5) सप्त प्राणाः (सात प्राण)।

(त्रिधा बद्धः)-

(1) श्रद्धापुरुषार्थयोगाभ्यासैः (तीन- श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास से बंधा हुआ)।

(2) त्रिषु मन्त्रब्राह्मणकल्पेषु (तीन- मंत्र, ब्राह्मण, कल्प)।

(3) उरसि कण्ठे शिरसि (हृदय, कण्ठ, शिर में)।

(4) श्रवणमननिदिध्यासनेषु (श्रवण, मनन, निदिध्यासनों में)।

(5) ब्रह्मचर्य्यसुकर्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारः (ब्रह्मचर्य, श्रेष्ठकर्म, उत्तम विचारों के बीच सिद्ध यह व्यवहार अर्थात् - उक्त तीन प्रकार से बंधा हुआ [धर्म] व्यवहार भी जानने योग्य है)।

(महो) महान् पूजनीयः (बड़ा सेवा और आदर करने योग्य)।

(देवः) स्वप्रकाशः सर्वसुखप्रदाता धर्मव्यवहारः, सत्कर्त्तव्यः वा (स्वप्रकाशस्वरूप और सबको सुख देने वाला [धर्म] व्यवहार या सत्कर्त्तव्य)।

(मर्त्यान्) - मरणधर्मान् मनुष्यादीन् (मरणधर्मवाले मनुष्य आदिकों को)।

(आ विवेश) - 1. समन्तात् व्याप्नोति ([आ] सब प्रकार से [विवेश] व्याप्त होता है)।

2. (मनुष्येषु) प्रविष्टोऽस्ति (मनुष्यों के बीच प्रविष्ट है)।

कर्मकाण्ड की आर्ष-परम्परा-

महर्षि वेदव्यास कहते हैं -

अग्निहोत्रफलावेदाः शीलवृत्तफलं श्रुतम्।
रतिपुत्रफला दाराः दत्तभुक्तफलं धनम्॥

अर्थात्-वेद का फल अग्निहोत्र है, ज्ञान का फल शील अर्थात् सदाचार का आचरण है, स्त्री का फल रति (सुख) और पुत्र है तथा धन का फल दान और भोग है। अतः वेद और वैदिक वाङ्मय का निहितार्थ यज्ञिय भाव और यज्ञमयी संस्कृति में निहित है। स्वयं वैदिक ऋचाओं का उद्घोष भी यही है-

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ (यजुर्वेद 31/16)
तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुतस्मादयाजत॥ (यजु0 31/7)
तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवाऽअयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ (यजु0 31/9)

किन्तु इस यज्ञ का अर्थ यदि उत्तरवर्ती याज्ञिकों तथा अर्वाचीन मीमासंकों के अनुसार 'देवतोद्देश्यक हविर्त्याग' मात्र किया जायेगा तो वह वेदविहित या वैदिक यज्ञ को पूर्णतया स्पष्ट नहीं कर पाएगा। चारों वेदों में उपलब्ध पुरुषसूक्त में ही यह स्पष्ट कर दिया गया है कि वह यज्ञ विराट् है, उस परम पुरुष के द्वारा जो यज्ञिय वितान किया गया है, उसमें बसन्त 'आज्य' (घृत) है, ग्रीष्म 'इध्मं' (समिधा) है तथा शरद् (ऋतु) 'हवि' (हवनसामग्री) है-

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
बसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ (यजु0 31/14)

वैदिक ऋचाओं से प्रेरित होकर ऋषियों ने जिस द्रव्य यज्ञ का विधान किया है वह अधिदैवत और अध्यात्म का प्रतीक है। अधियज्ञ का तात्पर्यार्थ या पर्यवसित अर्थ अधिदैवत और अध्यात्म है- **"याज्ञदैवते पुष्पफले देवताध्यात्मे वा"** (निरुक्त)।

दयानन्द-वाङ्मय में दो पङ्क्तियाँ अनेक बार आती हैं -

(1) ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त।

(2) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त।

उक्त पंक्तियों में प्रथम पंक्ति ऋषि परम्परा का बोध कराती है तथा द्वितीय पंक्ति यज्ञ परम्परा का। समयाभाव तथा विषपान-वश आकस्मिक निधन के कारण ऋषि दयानन्द वृहद् वैदिक यज्ञों तथा यागों का स्वरूप नहीं निरूपित कर पाये, किन्तु उन्होंने सन्ध्या अग्निहोत्र आदि पञ्चमहायज्ञों तथा 16 संस्कारों का विशद निरूपण 'पञ्चमहायज्ञविधि:' तथा 'संस्कारविधि' ग्रंथों में किया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, मन्त्र ब्राह्मण, मनुस्मृति, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, चरक, सुश्रुत, महाभाष्य, श्रौतसूत्र, चारों वेदों के गृह्य सूत्र - मुख्यतया आश्वलायन, पारस्कर, कात्यायन, गोभिल, शौनक, इत्यादि प्राचीन (आर्ष ग्रंथों) ऋषियों की मान्यताओं तथा वचनों के आधार पर ऋषि दयानन्द ने 'पञ्चमहायज्ञविधि:' तथा 'संस्कारविधि' आदि ग्रंथों की रचना की है। ऋषि दयानन्द के अतिरिक्त अन्य किसी आचार्य का ग्रंथ इतना व्यापक नहीं है, जिसमें पूर्वाचार्यों के प्रमाणों का अधिकाधिक ग्रहण करके उसमें सामंजस्य करने का प्रयत्न किया गया हो। उदाहरणार्थ-

(1) हिन्दुओं में प्रचलित कर्मकाण्ड के अनुसार सन्ध्यादि नित्यकर्म में **ॐ केशवाय नम:। ॐ नारायणाय नम:। ॐ माधवाय नम:।** ये तीनों लौकिक संस्कृत वाक्य बोलकर आचमन किया जाता है। (नित्य कर्म पूजा प्रकाश, पृ. 18 गीताप्रेस गोरखपुर, दशम संस्करण, 2053 वि0सं0)। जबकि स्वामी दयानन्द जी ने **'शन्नो देवीरभिष्टय०'** (यजुर्वेद 36/12) तथा **'अमृतोपस्तरणमसि स्वाहा'** प्रभृति (आश्वलायन गृह्यसूत्र 1/24/12, 21, 22) तीन मंत्रों से सन्ध्या और अग्निहोत्र में 'आचमन' का विधान किया है। ज्ञातव्य है कि इन मन्त्रों में आगत 'आप:' तथा 'अमृतं' पद जल का भी वाचक है, इस प्रकार यह रूपसमृद्ध विनियोग है।

(2) वेदों में भी उच्चावचता की मान्यता के कारण पौराणिकजन दैनिक सन्ध्या में 'अथर्ववेद' का मन्त्र नहीं बोलते। जबकि ऋषि दयानन्द ने सन्ध्या में परम्परा से प्रचलित **'अघमर्षण मन्त्र'** (ऋग्वेदीय) तथा **'उपस्थान मन्त्र'** (यजुर्वेदीय) को यथावत् स्वीकार करते हुए **'मनसा परिक्रमा'** के लिए अथर्ववेद से **'प्राची दिगग्नि०'** प्रभृति (अथर्ववेद 3/27/1-6)6 मंत्रों का भी विनियोग किया है।

(3) प्रांचीन गृह्यसूत्रकारों ने पुसंवन संस्कार का प्रयोजन (पुरुष) पुमान् अर्थात् पुरुष के जन्म से माना है - **पुमान् प्रसूयते येन कर्मणा तत् पुसंवनमीरितम्** (शौनक, वीरमित्रोदय संस्कार-प्रकाश, भाग-1 पृ. 166 पर उद्धृत)। किन्तु स्वामी दयानन्द के अनुसार पुसंवन-संस्कार का उद्देश्य पति के पुरुषत्त्व अर्थात् वीर्य लाभ से है। स्वामी जी की मान्यता है कि जब तक बालक का जन्म न हो जाये और जन्म के पश्चात् भी दो महीने न बीत जायें तब तक पति को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए और स्वप्न में भी वीर्यनाश न होने देना चाहिए। (संस्कार विधि-पृ. 64, अष्टम संस्करण 1993 ई., रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत)। स्वामी जी ने पुसंवनसस्कार के प्रमाण में सामवेदीय मन्त्र ब्राह्मण (1/4/8,9) अथर्ववेद (6/11/1-3) के मन्त्रों को उद्धृत करने के बाद

स्पष्टतः यह लिखा है- 'इन मन्त्रों का यही अभिप्राय है कि पुरुष को वीर्यवान् होना चाहिए।' (संस्कार विधि-पृष्ठ 65)। इससे भलीभाँति स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द स्त्री-पुरुष के भेदभाव के घोर विरोधी हैं। जबकि अन्य आचार्यों के अनुसार पुसंवन संस्कार का अर्थ पुत्र की कामना करना बालिकाओं के प्रति अन्याय तथा कन्या-जन्म को हेय दृष्टि से देखना है। यह कैसा संस्कार है कि जिसके द्वारा कन्या जन्म की इच्छा ही न की जाये। अतः स्वामी दयानन्द की क्रांतिकारी मान्यता स्त्री के प्रति भेदभाव को जड़-मूल से मिटाती है।

(4) जातकर्म संस्कार में पिता बालक के दायें कान में आश्वलायन गृह्यसूत्र के अनुसार **'मेधां ते देवः सविता मेधां देवी सरस्वती। मेधां ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ'** मंत्र का जाप करता है। पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार **ओम् अग्निरायुष्मान्०** से लेकर **ओम् समुद्र आयुष्मान्.........** तक 8 मंत्रों का दायें कान या नाभि में जपने का विधान किया। स्वामी जी ने दोनों ऋषियों के मतों का समाहार और संशोधन करते हुए जपने के मन्त्रों में दोनों का योग कर 9 नौ कर दिया तथा नाभि में मन्त्र जप को व्यर्थ समझ कर छोड़ दिया। और इन्हीं 9 नौ मंत्रों का पुनः बायें कान में भी जपने का विधान किया। ध्यातव्य है कि पौराणिक विचारधारा बायाँ हाथ, बायाँ कान इत्यादि को अशुद्ध मानती है।

(5) निष्क्रमण संस्कार में बालक के दक्षिण कान में मन्त्र जप करने का विधान है। इस संबंध में पारस्कर गृह्यसूत्र का मत यह है कि यदि बालिका का निष्क्रमण संस्कार हो रहा हो तो उसके कान में जप आदि न करके बिना मंत्र पाठ किये मौन होकर बालिका के सिर का स्पर्श करें। यही मत गोभिल गृह्यसूत्र का भी है। (**सव्ये स्त्रियै तु मूर्धानमेवाजिघ्रति तूष्णीम्'** - पारस्कर गृह्यसूत्र 1/18/6 **स्त्रियातूष्णीं मूर्धन्यभिजिघ्रणम् मूर्धन्यभिजिघ्रणम्** - गोभिल गृह्यसूत्र 25) टीकाकारों ने दो कदम आगे बढ़कर कन्या के दायें कान में मन्त्र का जप करना और सूर्यदर्शन कराने का भी प्रतिषेध कर दिया है। स्वामी जी का कन्या के प्रति भेदभावमूलक विधान से सहमत होने का तो प्रश्न ही नहीं है। वे बालक या बालिका के संस्कारगत विधियों को समान रूप से संपन्न कराने के पक्षधर हैं। अतः उन्होंने पारस्कर तथा गोभिल के उपर्युक्त वचन का तात्पर्य इस रूप में प्रस्तुत किया कि- "यज्ञमान बालिका की उपर्युक्त सभी विधियाँ बालकवत् सम्पन्न करके वाम पार्श्व में (वाम भाग) स्थित जो स्वस्त्री उसका भी मस्तक का स्पर्श करें" (संस्कार-विधिः, प्रथम संस्करण पृ0 41)। "और मौन करके स्त्री के सिर का स्पर्श करे"(संस्कार विधि द्वि0 सं0 पृ0 92)। यहाँ स्वामी जी ने कन्या के स्थान में स्वस्त्री का और सिर सूंघने के स्थान पर शिरः स्पर्श का संशोधन किया है।

निष्कर्षतः संस्कार करने कराने वालों के लिए संस्कारविधि एक उपयोगी ग्रंथ बन गया है। इसके पूर्व ब्राह्मण परिवारों में अपनी-अपनी वेदशाखा के अनुसार (पारस्कर या गोभिल या

आश्वालायन गृह्य सूत्रानुसार) संस्कार संपन्न किया जाता था। स्वामी जी ने इन सभी गृह्यसूत्रों को समाहित करके सर्वोपयोगी संस्कार ग्रंथ की रचना की है। संस्कारविधि की कुछ अन्य विशेषतायें इस प्रकार हैं-

(1) संस्कारों की कतिपय विधियों में मांसभक्षण का विधान गृह्यसूत्रों में मिलता है। विशेषकर मधुपर्क के निर्माण में तथा अन्नप्राशन में। किन्तु स्वामी दयानन्द ने स्वरचित 'संस्कार-विधि' में मांस, मछली तथा सुरा को कहीं किसी रूप में स्थान नहीं दिया ।

(2) गृह्यसूत्रों में संस्कार का पात्र मुख्यत: ब्राह्मण या द्विज अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य को माना गया है। स्वामी जी संस्कारों का पात्र मानवमात्र को मानते हैं। संस्कार श्रद्धा और भक्ति पूर्वक कोई भी कर सकता है। स्वामी जी के अनुसार संस्कारों को करने वाला द्विजत्व का निर्धारण गुण, कर्म स्वभाव के आधार पर है जन्म पर नहीं। इस प्रकार जन्म के आधार पर शूद्र कुलोत्पन्न बालक को संस्कार के अयोग्य नहीं माना जा सकता।

(3) गृह्यसूत्रों में स्त्री या नारी वर्ग के प्रति अत्यन्त ही भेदभाव मिलता है। मनुस्मृति और अनेक गृह्यसूत्र अनेक संस्कारों के लिए स्त्री को अधिकारी ही नहीं मानते हैं। संस्कारों की अनेक विधियाँ स्त्रियों के लिए विहित नहीं हैं या उन विधानों को स्त्री (बालिका) के संदर्भ में मन्त्रपाठरहित मौन होकर सम्पन्न करना है। स्वामी जी ने इस प्रकार के भेदभाव की कड़ी समीक्षा की है और स्त्री पुरुष दोनों के लिए समान रूप से सभी विधियों का विधान किया है।

सन्दर्भ-सूची

1. यास्क ऋषिरुदारधी: .... नष्टं निरुक्तमधिजग्मिवान्। (महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय 342, श्लोक 73)।

2. क्या निरुक्तकार यास्क वेदों में इतिहास मानते थे? आर्य समाज के दिग्गज विद्वानों का शास्त्रार्थ (सम्पादक- पं. युधिष्ठिर मीमांसक, प्रकाशक- रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, हरियाणा)

3. इदा हि त उषो अद्रिसानो गोत्रा गवामङ्गिरसो गृणन्ति।

   व्यर्केण बिभिदुर्ब्रह्मणा च सत्या नृणामभवद्देवहूति:।। (ऋग्वेद 6/65/5)

4. अयं मन्त्रार्थचिन्ताऽभ्यूहोऽपि श्रुतितोऽपि तर्कतो न तु, पृथक्त्वेन मन्त्रा निर्वक्तव्याः प्रकरणश एव तु निर्वक्तव्याः। न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति इत्युक्तं पुरस्तात्, मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्, को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एव तं तर्कमृषिं प्रायच्छन् मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूळ्हं तस्माद् यदेवं किंचानूवचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति (निरुक्त 13/12)।

5. अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतैनरुत। स देवाँ एह वक्षति।।(ऋग्वेद 1/1/2)।(ऋषिभिः) मन्त्रार्थद्रष्टृभिरध्यायपकैस्तर्कैः कारणस्थै। प्राणैर्वा (दयानन्द भाष्यम्)

6. महाभाष्यम् (पतञ्जलिमुनि-विरचितम्) हिन्दी व्याख्या- सहितम्, प्रथमो भागः, [व्याख्याकारः- युधिष्ठिरो मीमांसकः] पृ0 30-31 प्रथम संस्करण, वि0 सं0 2036 (सन् 1979 ई0)।

7. चत्वारि श्रृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश। (ऋ0 4/58/3)

पञ्चकोश साधना एवं चेतना

डॉ. ईश्वर भारद्वाज
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
मानव चेतना एवं योग विज्ञान विभाग,
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार -२४९४०४ (उत्तरांचल)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥[१]

'चमकदार सुवर्णपात्र से सत्य का मुख ढ़का हुआ है। हे सत्यान्वेषी! तू उस ढ़क्कन हो हटा जिससे सत्य का दर्शन हो सके'। उपनिषद्कार की यह उक्ति सत्यान्वेषी साधक को (चेतना) के आवरणों को हटाकर आत्मसाक्षात्कार करने की प्रक्रिया का संकेत करती है।

आत्मतत्त्व पर आवरण क्या है? ये आवरण ही कोश कहलाते हैं जो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय है। इन कोशों की वेद और उपनिषदों में लोक के सदृश व्याख्या की गई है।[2] तभी तो कहा गया है- 'यत्ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे'। यहाँ इन कोशों के वर्णन का उपक्रम किया जा रहा है। तैत्तिरीयोपनिषद् का ऋषि कहता है कि सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म हृदय की गुहा में छुपा हुआ है परन्तु वही परम-व्योम और अन्तरिक्ष मण्डल में दीख रहा है।[3] उसी ब्रह्म से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी, पृथिवी से औषधियाँ, औषधियाँ से अन्न, अन्न से वीर्य, वीर्य से पुरुष हुए। यह शरीर अन्न तथा अन्नरस के अतिरिक्त और क्या है? यह स्थूल शरीर ही 'अन्नमय कोश' है।[4] इसके अन्दर एक और शरीर है जिसे प्राणमय कोश कहते है।[5] इस प्राणमय कोश के अन्दर एक और शरीर है जिसे मनोमय कोश कहा जाता है।[6] मनोमय कोश के अन्दर एक और शरीर है जिसे विज्ञानमय कोश कहा जाता है।[7] विज्ञानमय कोश से भिन्न, इसी के अन्दर एक अन्य शरीर है जिसे आनन्दमय कोश कहा जाता है।[8]

अन्नमय कोश :-

यह प्रथम स्थूल आवरण है। इसे स्थूल शरीर कहा जाता है। माता-पिता के खाए अन्न से उत्पन्न रज-वीर्य से जो पैदा होता है और जन्म के पश्चात् क्षीरादि भोजनों से जो बढ़ता है, वह देह ही अन्नमय कोश है।[9] महर्षि दयानन्द का मत है कि त्वचा से लेकर अस्थिपर्यन्त का समुदाय पृथिवीमय है। उसी का नाम अन्नमय कोश है।[10]

इस अन्नमयकोश की तीन अवस्थाएं जाग्रत, स्वप्न एवं सषुप्ति है। जाग्रत अवस्था में

जीवात्मा सृष्टिभोग क्रियाओं को इन्द्रियों आदि की सहायता से सम्पादित करता है। स्वप्नावस्था में रजोमिश्रित वृत्ति का उपराम होकर रजोमिश्रित तमोवृत्ति का प्राधान्य हो जाता है जो स्वप्न देने वाली स्थिति है। इस अवस्था में भी सुख-दु:ख की प्रतीति होती है किन्तु यह प्रतीति जाग्रतावस्था में नहीं रहती। सुषुप्ति अवस्था में तमोगुण प्रधान होने से जीव को 'मैं सुखपूर्वक सोया' या 'मेरा चित्त क्लान्त है' आदि का वृत्यात्मक ज्ञान होता है।

प्राणमय कोश :-

अन्नमय कोश के अन्दर प्राणमय कोश है। इसके अन्तर्गत प्राण, अपान, समान, व्यान, उदान, तथा नाग, कुर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय ये दश प्राणों को लिया जाता है। विद्यारण्य मुनि पाँच मुख्य प्राण तथा पांच कर्मेन्द्रियों को भी इस कोश में स्थान देते है।[11] सदानन्द ने भी वेदान्तसार में इसी मत को ग्रहण किया है।[12] 'प्राणो हि भूतानामायु:'[13] कहकर प्राण की महत्ता प्रतिपादित की गई है। रक्तसंचरण, श्वसन, भोजन-पाचन, छींक, जम्भाई, मलमूत्र विसर्जन आदि कार्यों का सम्पादन इन्हीं के द्वारा होता है।

मनोमय कोश :-

प्राणमय कोश के अन्दर मनोमय कोश है। मन और पंच ज्ञानेन्द्रियों को इसके अन्तर्गत माना जाता है।[13] ज्ञान की क्रिया ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन के संयोग से ही होती है। यही मन रजस् प्रधान होकर चंचल होता है। जिसके कारण संसार की ओर गति होती है। साधना के लिए सर्वप्रथम मन को वश में करने के लिए निर्देश दिया जाता है।

विज्ञानमय कोश :-

मनोमय कोश के अन्तर्गत विज्ञानमय कोश की स्थिति कही गई है। चेतन के प्रतिबिम्ब रूप चिदाभास से युक्त जो बुद्धि सुषुप्तिकाल में लीन होकर शरीर में व्याप्त रहती है, वह विज्ञानमय कहलाती है।[14] यह बुद्धि अहंकार के साथ मिलकर मन के क्रियाकलापों का निग्रह करने वाली है। यह ज्ञान के क्षेत्र में निश्चयात्मक स्थिति देने वाली है।

आनन्दमय कोश :-

जीवात्मा के कारण शरीर को आनन्दमय कोश कहा जाता है। विद्यारण्य मुनि का कथन है कि जब हम किसी पुण्यकर्म के सुखरूप फल का अनुभव करते है, जब कोई बुद्धिवृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है और उस पर आत्मस्वरूप आनन्द का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है तथा भोगों के शान्त हो जाने पर वही बुद्धिवृत्ति निद्रा रूप से विलीन अर्थात् संस्कार रूप हो जाती है, उस वृत्ति को ही आनन्दमय कोश कहते है।[15] महर्षि दयानन्द का मत है कि जिसमें प्रीति, प्रसन्नता, न्यून आनन्द, अधिकानन्द आनन्द और आधार कारणरूप प्रकृति है, वह आनन्दमय कोश होता है।[16]

उसको प्रकृति का निवृत्तप्रसवारूप कहा जा सकता है।[17] साधक जब त्रिगुणातीत, स्वरूपनिष्ठ, जीवन्मुक्त अवस्था में प्रवेश करता है, तभी आन्नद की विशेष अनुभूति होती है। उस आनन्दानुभूति का आधार होने के कारण इसे आनन्दमय कोश कहा गया है।[18]

उपर्युक्त कोश विवरण के अनन्तर आत्मा के आवरण रूप इन कोशों को किस तरह से हटाकर आत्मसाक्षत्कार किया जा सकता है, उस पर विचार किया जाना अपेक्षित है। यह जो चेतन तत्त्व इन कोशों में भी व्याप्त होकर सम्पूर्ण क्रियाकलाप करता सा दृष्टिगत होता है, वह इन कोशों से बंधा है। इन कोशों से ढ़का होने के कारण वह आत्मस्वरूप को भूल गया है। अत: दु:खी होकर संसार में बार-बार जन्मादि धारण कर रहा है। पंचदशी (पीताम्बरी भाष्य) में कहा गया है कि इन अन्नमयादि कोशों से ढ़का हुआ स्वरूपभूत आत्मा अपने स्वरूप को भूलकर जन्मादि प्राप्तिरूप संसार में आता है। जैसे कोश-कोश बनाने वाले कीड़े को ढांपकर उसके दु:ख का कारण बनता है, उसी प्रकार अन्नमयादि कोश भी आत्मा की अद्वयता, आनन्दमयता आदि को ढ़क कर उसके लिए क्लेश-हेतु होते हैं, इसलिए इनको कोश कहते है।[19]

कोश आत्मा से नितान्त भिन्न हैं-यह साधक को जान लेना चाहिए। यह जानने के लिए विवेक ज्ञान होना अनिवार्य है। जब साधक अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय कोश को अनात्म तत्त्व समझकर इनसे उपराम हो जाता है, तो आनन्दमय स्थिति को प्राप्त करता है। यह स्थिति आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होने के कारण विशिष्ट आनन्ददायिनी है। अत: साधक इस स्थिति को ब्रह्मानन्द ही मान बैठता है। किन्तु तैत्तिरीय का ऋषि इस अवस्था को भी पार करने को निर्देश देता है।[20] क्योंकि यह आत्मस्थिति नहीं है। विद्यारण्य मुनि भी पंचकोश के परिज्ञानपूर्वक इनके परित्याग की बात करते है।[21]

पंचकोश साधना विधि :-

आत्मसाक्षात्कार हेतु इस साधना विधि का आश्रय लेकर सहज ही मानव निज कल्याण के लिए प्रयास में रत हो सकता है।

अन्नमयकोश साधना :-

शुद्ध सात्त्विक आहार का सेवन करना, शरीर को बलशाली बनाना और इस शरीर के द्वारा सुकर्मों का सम्पादन करना अन्नमयकोश की साधना है। गीता में युक्ताहार, युक्तचेष्टा, युक्तनिद्रा और युक्तजागरण के प्रसंग से इस अन्नमय कोश साधना का संकेत किया है। यौगिक षट्कर्मों से शारीरिक शुद्धि करके आसन द्वारा शरीर में दृढ़ता तथा आरोग्यता की प्राप्ति करनी चाहिए। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र-इन सप्त धातुओं की पुष्टि हेतु आहार-विहार का विचार करके सेवन करना चाहिए। तब प्राणमय कोश की साधना के लिए मार्ग प्रशस्त होगा। किन्तु इन सब कार्यो के साथ शरीर में आत्माध्यास छोड़कर केवल साधन रूप स्वीकार करना चाहिए।

प्राणमयकोश साधना :-

प्राणायाम दोषों को दूर करने वाला[22] और प्रकाश देने वाला है[23]। जैसे अग्नि धातुओं के मलों का नाश कर देती है, वैसे ही प्राणायाम से शरीर व इन्द्रियों के मलों का नाश होता है।[24] अतः प्राणायाम का अभ्यास करके इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास करें। प्राणायाम साधना से ही आत्मतत्त्व के आवरण को भेदकर साक्षात्कार किया जा सकता है क्योंकि मलपूरित नाड़ियों में उन्मनी अवस्था नहीं आ सकती।

मनोमय-कोश साधना :-

यम-नियमों का अभ्यास तथा मन व इन्द्रियों को वश में करके मनोमय कोश की साधना प्रशस्त होती है। मन ही चंचल और दुर्निग्रह है किन्तु इसे अभ्यास वैराग्य द्वारा वश में किया जा सकता है। यही महर्षि पतंजलि का भी विचार है।

विज्ञानमय-कोश साधना :-

विज्ञानमय कोश की साधना में बुद्धि व अहंकार को वशवर्ती करना है। जब पूर्वकोशों पर विजय प्राप्त हो जाएगी तो सम्प्रज्ञात-समाधि की अवस्था तक पहुँच जाएंगे। वितर्कानुगत के पश्चात् विचारानुगत-सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि करनी चाहिए। आनन्दयुक्त सम्प्रज्ञात समाधि से आगे बढ़ना और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति तक पहुँचना विज्ञानमय कोश की साधना है। यही साधना के विवेक-ख्याति का आधार है।

आनन्दमयकोश साधना :-

इस अवस्था में पहुंचने पर साधक की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध होकर एक वृत्ति विवेकख्याति रहती है जिसके द्वारा परमानन्द की अनुभूति होती है। इसी वृत्ति से संस्कारों को दग्धबीज अवस्था प्राप्त होती है और असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति आती है। यहाँ जीवन्मुक्तावस्था के आनन्द की अनुभूति होने लगती है। परवैराग्य द्वारा विवेकख्याति वृति से भी छूट जाने पर प्रकृति का प्रतिप्रसव हो जाने से वह अपने मूलरूप में समाहित हो जाती है जिससे कैवल्य की अवस्था प्राप्त होती है। यही अवस्था चेतन तत्त्व का साक्षात्कार कराने वाली है। जैसे झीने आवरण में से प्रकाश फूट पड़ता है, वैसे ही आत्मतत्त्व की ज्योति प्रकट होती है। यह आवरण हट जाने पर साधक कैवल्यावस्था में स्थित हो जाता है।

इस प्रकार पंचकोश साधना द्वारा साधक चेतना तक पहुँचने में समर्थ होता है। वह उस परम चेतन तत्त्व का साक्षात्कार करके चरम लक्ष्य प्राप्ति में समर्थ हो जाता है।

सन्दर्भ

1. ईशावास्योपनिषद्-15
2. यत्र लोकांश्च कोशांश्चायो ब्रह्मजना विदु:। अर्थर्ववेद-10/7/10
3. सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।-तैत्तिरीयोपरिषद्-ब्रह्मनन्द वल्ली-1
4. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश: संभूत:। आकाशाद् वायु:। वायोरग्नि:। अग्नेराप:। अद्भ्य: पृथिवी। पृथिव्या ओषधय:। ओषधीभ्योऽन्नरसमय:। ब्रह्मानन्द वल्ली-1
5. तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तरआत्मा प्राणमय:। -वही।
6. तस्माद्वा एतस्मात् प्राणमयात्। अन्योऽन्तरआत्मा मनोमय:। -वही।
7. तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तरआत्मा विज्ञानमय:। -वही।
8. तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तरआत्माऽऽनन्दमय:। -वही।
9. पंचदशी-विद्यारण्य मुनि (पंचकोशविवेकप्रकरण)
10. सत्यार्थप्रकाश- नवम समुल्लामस।
11. पंचदशी (पंचकोशविवेकप्रकरण-5)
12. वेदान्तसार, पृ0 45।
13. पंचदशी (प्रत्यक्ततत्त्वविवेकप्रकरण-5)
14. वही (पंचकोशविवेकप्रकरण-7)
15. काचिदन्तर्मुखा वृत्तिरानन्दप्रतिबिम्बभाक्।
    पुण्यभोगे भोगशान्तो निद्ररूपेण लीयते।। पंचदशी (पंचकोशविवेकप्रकरण-9)
16. सत्यार्थप्रकाश-नवम समुल्लास।
17. सांख्याकारिका-65।
18. वेदों में योग विद्या-पृ0 177।
19. पंचदशी पीताम्बरी भाष्य, पृ0-65।
20. तैत्तिरीयोपनिषद् - 218।
21. पंचकोश परित्यागे साक्षिबोघावशेषत:।
    स्व स्वरूपं स एवं स्याच्छून्यत्वं तस्य दुर्घटम्।। पंचदशी (पंकोशविवेकप्रकरण-22)
22. प्राणायामैर्दहेद्दोषान्-गोरक्ष संहिता।
23. तत: क्षीयते प्रकाशावरणम्-योगसूत्र 2/52
24. दह्यन्तेध्मायमानानां धातूनां हि यथा मला:।
    तथैव दह्यन्ते दोषा: प्राणस्य निग्रहात्।। मनु स्मृति

दृढ़व्रतधारी ब्रह्मचारी महादेव शिव

लेखक : महावीर 'नीर' विद्यालंकार,
गुरुकुल कांगड़ी

जग का कल्याण करनेवाले शिव उन नामधारी (देवों)विद्वानों में अग्रगण्य, शिवालिक नरेश, विद्वानों की त्रिमूर्ति (ब्रह्मदेव, विष्णुदेव, महादेव) में प्रतिष्ठित, (देव+देव) महादेव शिव शंकर भारत-राष्ट्र की अस्मिता के प्रतीक बने हुए हैं। हजारों वर्षों से लोग उनके गुणों का गान करते आ रहे हैं। अन्धश्रद्धा के अतिरेक में लोगों ने उनको न जाने क्या-क्या रूप दे दिये हैं। न जाने कैसे-कैसे किस्से कहानियाँ गढ़ दिये हैं। उनकी महिमा में कहीं शिव पुराण, कहीं स्कन्द पुराण, कहीं लिंग माहात्म्य, कहीं शिव-स्त्रोत, कहीं कालिदास रचित कुमार सम्भव तथा टी0वी0 पर 'ऊँ नमः शिवाय' आदि सीरियल दिखाये जा रहे हैं। वहाँ उनकी कैसी महिमा है? इस पर न जाकर संक्षेप और सीधे-सीधे शब्दों में अपनी बात को कहकर उस महामानव के ऊँचे व कल्याणकारी जीवन पर विचार करेंगे।

'विद्वांसो हि देवाः' विद्वान् ही देव हैं और विद्वानों को ही पहले देव कहा जाता था। ये देते ही देते थे। ऐसे ही ज्ञान और विज्ञान के दाता हमारे महादेव थे। इन्हें 'रुद्र' भी कहा जाता है। 'रुद्र' ब्रह्मचारी भी है और उसे शस्त्रों में (रुद्रःउपदेशको जनः) भी कहा जात है। ये महादेव **'अग्निष्वात्त'** के पुत्र थे। इनका लोक (निवास) हिमालय का हिमाच्छादित भयंकर ऊंचा प्रदेश था, जिसे 'कैलाश' भी कहा जाता था। कालान्तर में विष्णु व महादेव आदि कुलों के नाम पड़ गए। शिव का शासन उज्जैन, काशी और हरिद्वार क्षेत्र में भी था।

लोगों के दिलों में महादेव शिव की इतनी महिमा क्यों है? इस पर विचारने से ज्ञात होता है कि वे महादेव यों ही नहीं थे? वे बड़े वीर, तपस्वी, विद्वान्, व साधक थे। लोक में प्रचलित है कि जिसने अपना लंगर (लंगोट) कस लिया, उसने सबको जीत लिया। इन्द्रियों को वश में करना बहुत कठिन है। शिव ने इस कठिन कार्य पर विजय पाकर 'ब्रह्मचर्य' के माहात्म्य को जग-जाहिर किया था। बस महादेव शिव ऐसे ही लंगोट के पक्के ब्रह्मचारी या तपस्वी थे। व्रतचारी थे। जटाजूटधारी थे। नग्न रहकर मिट्टी, राख, रेत शरीर पर मलकर रहते थे। वैराग्य-भाव और योग-भाव की उनकी प्रवृत्ति थी। देखिए आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वनामधन्य महर्षि दयानन्द भी तो ब्रह्मचर्य का कठोर व्रत करते हुए राख (भभूत) एवं रेत शरीर पर मलकर विचरते और उपदेश करते फिरते थे। इसलिए उस समय के महादेव यदि कठोर तप करते हुए, श्मशान की राख आदि शरीर पर मलकर रमते रहते थे तो आश्चर्य की क्या बात? ऐसे शिव को पाना भी हंसी खेल नहीं था। हिमाचल प्रदेश के राजा हिमवान् की पुत्री 'पार्वती' को भी तप करना पड़ा। तपस्विनी व ब्रह्मचारिणी बनना पड़ा। अपने को साधना पड़ा। तप से कुन्दन बनकर ही ऐसे शिव को पाया जा

सकता था। वास्तव में जिसने कामवासनाओं पर विजय पाकर अपार ब्रह्मचर्य शक्ति धारण की-ऐसे नामी-ग्रामी महामानव थे महादेव शिव। इतिहास के पन्ने पलटिए- जैसे दिलीप और सुदक्षिणा ने 'वसिष्ठ' के तपोवन में रहकर 'नन्दिनी गाय' की सेवा करते हुए तपस्यामय जीवन बिताकर 'रघु' जैसा पुत्र पाया। जिसके नाम से 'रघुकुल' प्रसिद्ध हुआ। योगिराज श्री कृष्णचन्द्र महाराज के जीवन को देखिए-बारह वर्ष ब्रह्मचर्य का कठोर व्रत धारण कर 'प्रद्युम्न' जैसा परमवीर पुत्र प्राप्त किया। अंजना और केसरी ने 12 वर्ष ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर 'वीर हनुमान्' जैसा असाधारण बलशाली व बुद्धिमान् पुत्र-रत्न प्राप्त किया। इसी प्रकार पूर्व में महादेव शिव ने अखण्ड ब्रह्मचर्य के तप से 'कुमार कार्तिकेय' सा वीरशिरोमणि पुत्र प्राप्त किया। जिसने राक्षसवृत्ति के लोगों से देववृत्ति के मनुष्यों की रक्षा का भार उठाया।

यही कारण है प्राचीन काल से ही विद्वान् लोग व जिज्ञासु मानव उन कामवासनाओं को वश में करने व ज्ञान-'विज्ञान प्राप्त' करने के लिए (देवों) विद्वानों के पास जाते थे। उनके लोकों, आश्रमों या तीर्थों में जाकर सान्निध्य प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाते। इन देव लोकों में भी समय-समय पर ज्ञान-विज्ञान पर चार्चाएं हुआ करती थी। जिनमें सभी लोकों के प्रतिनिधि भाग लेते थे। तीर्थों के तटों पर या विद्वान् रूपी तीर्थों से, आश्रमों के समीप बहने वाले जल-स्त्रोतों में स्नान कर, ज्ञान-विज्ञान की नदी में गोता लगाकर शरीर और मन से पवित्र हो 'व्रत' लिया जाता था। **'व्रतो वै पूज्यभावः'** गंगाजल या पवित्र जल हाथ में लेकर या पात्र में लेकर 'व्रत' या 'संकल्प' अथवा 'शपथ' लेते थे। 'कावड़ी' भी तो 'गंगाजल' लेकर जाते हैं, किन्तु 'तीर्थ पुरुषों' या 'ज्ञानी-पुरुषों' या 'विद्वान् पुारुषों' से कौनसा ज्ञान लेकर जाते हैं, तथा उनके 'संकल्प' क्या होते हैं, ये तो वे ही जाने? वैसे पूर्व में लोग 'व्रत' का महत्त्व समझते थे। अच्छी बातों का व्रत लेते थे। **'संगच्छध्वं-संवदध्वम्'** का व्रत लेते थे। खाना न खाने का भूखे मरने का कोई 'व्रत' नहीं होता। सत्य बोलने का धर्म पर चलने का सबसे मित्र-भाव रखने का ब्रह्मचर्य से रहने का, विद्वानों का आदर करने का, बुद्धि का लोप करने वाले पदार्थों का भक्षण न करने का, माता-पिता व गुरु की आज्ञा मानने व आदर करने का, ईश्वर की सच्ची आराधना करने का 'व्रत' (पूज्यभाव) होता है। उपनिषद् का एक वाक्य है। **'अन्नं न निन्द्यात् तद् व्रतम्'** अन्न की निन्दा न करो व पूज्य है। 'क्षत्रिय राजा' प्रजा-पालन व उसकी रक्षा का व्रत लेता था। वैश्य धन इकट्ठा करके राष्ट्र को समृद्ध बनाने का व्रत लेता था। ब्रह्मण आजीवन तपस्या व त्यागमय जीवन का व्रत लेकर विद्या बाँटता फिरता था। 'शुद्र' समाज का वह मूल भूत अंग था जो सेवा का व्रत लेकर पुण्य का भागी बनता था। हमारे यहाँ तो ऐसे-ऐसे व्रत थे और इन्हीं व्रतों पर चलने वाले बड़े-बड़े धर्मात्मा, संत, भक्त, पितृभक्त व मातृभक्त थे। इसलिए पुराने लोग अग्नि की साक्षी में व्रत लेते थे, ईश्वर को सर्वशक्तिमान् मानकर व्रत लेते थे। किसी महान् विभूति को साक्षी मानकर व्रत लेते थे। मन में शिव संकल्प का भाव उदय हो यही प्रयत्न होता था। **'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'**। इसलिए मन की शुद्धि का विचार सर्वोपरि होता

था। 'शिव' जी के महान् चरित्र से यही सीख सकता है। 'शिव' भी **ऐसे ही मनोविकारों** को दूर कर में करने वाले तपी व्रतधारी थे। आज का मानव- 'शिव' जैसा **व्रत कोई** ले तो सही। कहा है- **शिवः रुद्रः शान्तोऽग्निः।**

यही कारण है कि लोक में महादेव शिव को इतना महत्त्व मिला है। ये बड़े दयालु, कृपालु, विद्वान् प्रजावत्सल व वेष बदलकर प्रजा का हाल जानने वाले, प्राणिमात्र पर दया करने वाले अधिपति थे। वेद-वेदांगों के ज्ञाता एवं संगीत व नृत्यकला के पारखी थे। जीवन में फक्कड़ टाइप थे। कर्मप्रधान जीवन के अनुयायी एवं ईश्वर के 'सत्यं-शिवम्-सुन्दरम्' रूप के उपासक व उद्घोषक थे। मन की सुन्दरात के पोषक एवं बाह्य-पहनावे के दिखावे को वे महत्त्व नहीं देते थे। अपनी प्रजा के गरीब व दु:खी जनों की सहायता करने वाले थे। यही नहीं वे ज्ञान-विज्ञान के ज्ञाता थे। बड़े-बड़े वीर, जिज्ञासु, विद्वान् उनके राज्य (लोक) में आकर 'पाशुपतास्त्र' आदि शस्त्रों-अस्त्रों एवं शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करते थे। उन दिनों अयोध्या कौशल राज्य की राजधानी थी। इस राज्य के उत्तर की ओर हिमालय देश था। हिमालय के पश्चिमोत्तर में 'कैलाश देश' और उत्तर में किरात देश था। उस से उत्तर में देवलोक था। देवलोक से उत्तर में ब्रह्मलोक था। उन दिनों आकाशमार्ग से जाने के साधन गुब्बारे व विमान उपलब्ध थे। यह जानकर आश्चर्य होगा कि शिवलोक के अधिपतिशिव अयोध्या भी आया जाया करते थे, यही नहीं वीर हनुमान् ने भी 'शिवालय' में ही सब प्रकार की शिक्षा ली थी। महाभारत काल में अर्जुन भी जहाँ दिव्य-अस्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए पाताल लोक (अमरीका) गए थे, वहाँ वे 'पशुपतास्त्र' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए 'शिवलोक' भी गए थे। ऐसे एक दो नहीं अनेकों उदाहरण प्राचीन ग्रन्थों से प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

पर्वतीय प्रदेशों में तब भी और अब भी पशुओं की हिंसा (मारने) की प्रवृत्ति कम नहीं थी। ये लोग सांप आदि जीवों तक को नहीं छोड़ते थे। महादेव शिव ने पशुओं, पक्षियों आदि को मारने पर पाबन्दी लगाई। उन्हें अपने गले का हार बनाया। प्राणिमात्र की रक्षा के आदेश जारी किये। अपना वाहन भी 'वृषभ' के आकार का बनाया। गणों (सैनिकों) और प्रजाजनों के कार्यों में इन पशुओं की भागीदारी निर्धारित की। इनसे सामान आदि ढोने, रसद पहुँचाने, फल एवं मेवे आदि बाह्य-प्रदेशों में पहुँचाने का कार्य लिया। सांपों को मारना बंद करवाया। पशुओं की 'बलि-प्रथा' पर रोक लगवाई। पक्षियों की भी रक्षा की। फलों-फूलों के हरे-भरे उद्यान व वन संरक्षित किये। जीवन को कर्मप्रधान बनाया। जनता में करके खाने का भाव जागृत किया। उनके राज्य में हर कोई स्वतन्त्र विचर सकता था। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सबको प्राप्त थी। ऐसे थे महादेव शिव। किन्तु इन अच्छे कार्यों के करने के कारण लोगों ने उन्हें भला बुरा भी कहा। उनके प्रति समाज में कटुता व वैमनस्य का जहर भी उगला, यहाँ तक कि कुछ पितृ-समान बड़े लोग भी उनके द्वेषी हो गए। पर महादेव शिव इस जहर को भी अमृत समझकर पी गए। किन्तु अपने कर्त्तव्य-कर्मों से विमुख नहीं हुए।

उन्होंने यह भी जाना था कि पर्यावरण के बिगड़ने और वन्य प्राणियों की प्रजातियों के विनाश से प्राकृतिक सन्तुलन खतरे में पड़ सकता है। आज भी इस समस्या के निराकरण के लिए वृक्षों के कटाव, जल-उद्गमों को मनमाने ढंग से प्रयोग में लाने, वन्य-प्राणियों के आखेट आदि पर पर्वतीय क्षेत्रों में निषेधाज्ञाएं जारी की जाती है। कंटीलें तार बाड़ आदि के द्वारा वन्य-जीवों और वन्य-वृक्षों व वनस्पतियों का संरक्षण किया जाता है। हम आज यह स्पष्ट देख रहे हैं कि आधुनिक युग की चकाचौंध ने पर्वतों की काया को बिगाड़ दिया हैं इसलिए प्रकृति का क्रोध हम पर स्पष्ट दिखाई दे रहा है। इसलिए महादेव शिव प्रकृति-पुजारी, पशुपति और कैलाशपति थे।

उनकी महान् दयालुता और लोकोपकार भावना के कारण ही भगीरथ गंगा की धारा को धरती तक ला सके। अपने राज्य की सीमाओं (जटाओं) से शिवजी ने गंगा (प्रथम नाम पद्मा व देवनदी) को निकालने की आज्ञा देकर संसार के प्राणियों के लिए महान् कल्याण का कार्य किया। इस कार्य के लिए महाराज भगीरथ को भी वर्षों तक अथक परिश्रम व अनुनय-विनय (तपस्या) करनी पड़ी थी। (आज भी यदि किसी राज्य से कोई दूसरा राज्य अथवा देश 'नदी-जल' प्राप्त करना चाहता है तो उसको बड़ी-बड़ी बाधाओं को पार करना पड़ता है, ऐसे ही स्वीकृति नहीं मिल जाती) भगीरथ को भी ऐसे ही स्वीकृति नहीं मिल गई, बड़ा कष्ट उठाना पड़ा था उसे। क्योंकि उसके पुरखों और उसने अपनी सन्तान तुल्य प्रजा को अकाल (जल, व अन्न के अभाव) से मरते देखा था। (इन तथ्यों को समझने की आवश्यकता है) भगीरथ के इस महान् श्रम और शिव की लोक-कल्याणकारी भावना को और आगे बढ़ाया था, अंग्रेजी-राज में 'काटले साहब' ने जिन्होंने गंगनहर निकाली थी। अब तो अनेकों नहरें, राजवाहे, ट्यूबवेल व नल आदि निकाले व लगाये जा रहे हैं, किन्तु कल्पना कीजिए हजारों वर्ष पूर्व ही नहीं पचास सौ वर्ष पूर्व ही जब कृषक ही नहीं साधारण जनता भी पानी के लिए तरसती थी। खैर! विद्वानों, राजाओं, तपस्वियों व ईश्वर के प्रति वर्षों तक तप कार प्रभाव फल देनेवाला होता ही है। तप से ही कुछ हासिल होता है। इसी में जगमंगल है। जग का कल्याण निहित है।

महादेव जी अपने गुणों के कारण जगत् विख्यात थे। वे अपने गणों (सैनिकों) को पुत्रवत् समझते थे। इसलिए गणपति (गणेश) जी जोकि उनकी सेना के प्रमुख सेनापति थे और जिनके वाहन की आकृति मूषक (चूहे) के समान थी। शिवजी को उनपर पुत्रवत् स्नेह और विश्वास था। शिवशंकर महादेव शासन में 'रुद्र' थे। कठोर थे। (रुद्रः सेनाध्यक्षः)(रुद्रशत्रुविदारको राजा)। हिमालय की पर्वतमालाओं को लांघकर पहले भी विदेशी शत्रुदल इस महान् भारतभूमि पर आक्रमण करते रहते थे। किरात, यवन, हूण, शक व तारक आदि असुर देवभूमियों को आक्रान्त करते ही रहते थे। यह राक्षसवृत्ति के लोग सबको कष्ट पहुंचाते थे। इसीलिए शत्रुओं पर महादेव शिव का 'रुद्र' रौद्र होता था। उनका भयंकर ताण्डव क्या है? शस्त्र-संचालन करने और शत्रु के दिल में भय पैदा करने का, वाद्य-यन्त्रों (बड़े-बड़े डमरूओं, भेरी, नरसिंगे) आदि के उद्घोष सहित, विविध

मुद्राओं में शत्रुदल पर चढ़ाई करते थे तो भंग के सात्त्विक नशे में उनकी भुजायें फड़कती और मुख-भंगिमायें रौद्र-रूप धारण करती थी। 'धम-धम और बम-बम' की ध्वनि से धरती-आकाश गुंजायमान होता था। शिव के शस्त्रागारों में शत्रुमर्दन के लिए जहाँ विविध प्रकार के दिव्यशस्त्रों-अस्त्रों का निर्माण होता था वहाँ उन्होंने साधारण शत्रुओं पर विजय पाने के लिए एक नोक वाले 'शूल' भाले के स्थान पर तीन 'शूल' नोक वाला भाला अर्थात् 'त्रिशूल' बनवाया। जिसका वार शत्रु पर भारी पड़ता था। ऐसे परम प्रतापी महान् गुणों के भण्डार थे महादेव शिव। वे दिखावे और गर्व से दूर थे। सच्चे ईश्वर आराधक, मंगलमय प्रभु के प्रस्तोता और **'ओ३म्'** या 'ओंकार' के उपासक थे। उन्होंने अपने जीवन को इतना तपा लिया था कि वे ऊंचे दर्जे के साधक व तपस्वी थे। समाधि की अवस्था में रह जाते थे। इसलिए उन्होंने लगभग 250-300 वर्षों की लम्बी आयु का भोग किया। अन्त में समाधिस्थ हुए। देखिए महाभारत काल में भी भीष्म, कृष्ण, धृतराष्ट्र, बलराम आदि 200/250 वर्ष से कम के नहीं थे। आज भी ऐसे व्यक्ति विद्यमान हैं जिनकी आयु 100 को पार करके दूसरा शतक बनाने को उद्यत है। इसलिए शिव द्वारा वर्षों की लम्बी आयु भोगना गलत नहीं है। वे अपने लोकोपकारी कार्यों से जन-जन में आज भी अमर हैं। किन्तु उनका नाम लेकर जो भंग-धतूरा पी-पीकर अनाप-सनाप बकते हैं, वे उनके सच्चे अनुयायी या भक्त नहीं शत्रु हैं। उस महान् महापुरुष, महाविद्वान् महादेव (तथा अन्य महापुरुषों) के विषय में जो अनाप-सनाप, ऊल-जलूल मनगढ़ंत कथायें गढ़ी या की जाती हैं उनका खण्डन और उनके महान् जीवन का मण्डन होना ही चाहिए।

॥ इति शुभम्, अलम्, शिवम् ॥

ऋग्वेद में विश्वकल्याणार्थ युद्ध और हिंसा

डॉ.नन्दिता सिंघवी
व्याख्याता, संस्कृत
राजकीय डूंगर महाविद्यालय
बीकानेर (राज०)

वेद मानव को निम्न लोक से उच्च लोक में प्रतिष्ठित करना चाहता है और मानव में दिव्य गुणों का विकास देखना चाहता है - **मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्**[1]। ऋग्वैदिक मन्त्रों में आर्यों द्वारा दिव्य गुणों को धारण करने के लिये देवों की आराधना के साथ ही एक सुखमय और शान्तिपूर्ण जीवन की कामना की गयी है। इसी श्रृंखला में वेद में सर्वभूतमैत्री का संदेश दिया गया है।[2] जीवन में बहुविधसम्पन्नता के लिये वेद में कतिपय निषेधात्मक कामनाएं भी की गयी हैं, जैसे दरिद्रता से मुक्ति, रोगों की शान्ति और शत्रुनाश आदि। वैदिक आर्य सकरात्मक चिन्तन में विश्वास रखते थे। उनके अनुसार मानवजीवन के दो प्रशंसनीय मार्ग हैं- सत्य और अहिंसा। इनसे ही मनुष्य का इहलोक और परलोक में कल्याण हो सकता है।[3] महाभारत में अहिंसा को परम धर्म घोषित किया गया है।[4] जैसे- हाथी के पदचिह्न में अन्य सब प्राणियों के पदचिह्न समा जाते हैं, उसी प्रकार सभी धर्म अहिंसा से प्राप्त हो जाते हैं।[5] योगशास्त्र में अहिंसा के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अहिंसा माता के समान समस्त प्राणियों का हित करने वाली है, अहिंसा विश्वरूपी मरुस्थल में अमृत का झरना है, अहिंसा दुःखरूपी दावानल को नष्ट करने के लिए वर्षाकालीन मेघों की घनघोर घटा है, अहिंसा भवभ्रमण रूपी रोग से पीड़ितजनों के लिये उत्तम औषधि है।[6] प्राणिमात्र के प्रति किसी भी प्रकार की हिंसा से बचने के लिए अथर्ववेद में कहा गया है कि चलते-फिरते, बैठे हुए, खड़े हुए, दाहिने या बायें पाँव से टहलते हुए भूमि में हम किसी को दुःख न दें।[7] जल, पृथ्वी, वृक्ष आदि सभी में जीव व्याप्त हैं। कतिपय जीव तो इतने सूक्ष्म हैं कि मनुष्य की पलक गिरने मात्र से ही मर जाते हैं, अतः महाभारत में सम्पूर्ण जगत् को जीवों से व्याप्त मानकर यह प्रश्न उठाया गया है कि क्या कोई प्राणी हिंसा से बच सकता है?[8] इसका समाधान यह दिया गया कि हिंसा और अहिंसा का आधार बाह्य घटना न होकर, मनुष्य की मनोदशा आधार है। तत्वार्थसूत्र में भी कहा गया है कि राग-द्वेष आदि प्रमादों से युक्त होकर किया जाने वाला प्राणवध हिंसा है।[9] अहिंसा के दो भेद हैं- पारमार्थिक और व्यावहारिक। पारमार्थिक अहिंसा आत्मा की समानता के सिद्धान्त पर आधारित है जिसके अनुसार जैसे सुख-दुःख की अनुभूति मेरी है वैसी ही अन्य प्राणियों की है, अतः दूसरे प्राणियों को कष्ट देना स्वयं को कष्ट देना है।[10]

व्यावहारिक अहिंसा उपयोग पर आधारित तथा स्वार्थप्रेरित अहिंसा है। वेदों में हमें अहिंसा के दोनों रूप दृष्टिगत होते हैं, किन्तु व्यावहारिक अहिंसा पर वेदों में विशेष बल दिया गया है। सामान्य मानव इसी व्यावहारिक अहिंसा को जीवन में अपनाता है। भौतिक सुख पाने के लिए शुत्रओं की हिंसा अनिवार्य है। ईर्ष्या-द्वेष-लोभ आदि प्रवृत्तियों के कारण मानव विकासशील प्राणी है। इन प्रवृत्तियों के कारण मनुष्य एक-दूसरे का शत्रु बनता है अत: शत्रुरहित बनने के लिये उसे मानसिक या शारीरिक हिंसा का आश्रय लेना पड़ता है। वेद अकारण हिंसा का विरोध करते हुए सकारण हिंसा को विश्व कल्याण हेतु अनुज्ञा प्रदान करता है।

अथर्ववेद ने हिंसक की हिंसा में कोई दोष (पाप) नहीं माना और कहा कि जो मांस खाते है उन्हें तुम मार डालो।[11] अथर्ववेद के एक मन्त्र में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि वह अपने अहिंसक दिव्य तेज से सत्य का नाश करने वाले को जला दे।[12] तात्पर्य है कि जो सत्य का नाश करता है उसका नाश करना हिंसा नहीं अपितु अहिंसा है।

आर्यों ने अपने देवताओं को हिंसारहित अथवा अहिंसक गुण से विभूषित किया है।[13] वे आर्य स्वयं भी इन गुणों से युक्त हो इसके लिये उन्होंने अहिंसक बुद्धि की कामना की है।[14] इन्द्र से ऐसी विपुल समृद्धि की प्रार्थना की गयी है जो कल्याणकारिणी, अहिंसक तथा शुत्रओं को तारने वाली हो।[15] देवता भी अहिंसक मानव को चाहते हैं इसलिए इन्द्र और वरुण दानी अहिंसक पुरुष को ऐश्वर्ययुक्त और अन्नयुक्त धन देते हैं।[16] जो उत्तम अहिंसक यज्ञशील मनुष्य अन्न से, समिधा से, आहुति से, ज्ञान से अग्नि के लिये आहुति प्रदान करता है, वह मनुष्य उत्तम सुख से युक्त होता है।[17] इसके विपरीत किसी भी मानव की धूर्तता या हिंसा विश्वकल्याण के लिए घातक हो सकती है और मानवीय सुखों में विघ्न उत्पन्न कर सकती है।[18] अत: वेद ऐसे लोगों के विनाश का निर्देश देता है।

तैत्तिरीय संहिता में असुरों को देव-विरोधी, राक्षसों को मानव-विरोधी तथा पिशाचों को पितृ-विरोधी बताया गया है। सारे वैदिकसाहित्य में ऐसे लोगों के वध व विनाश की कामना की गयी है, क्योंकि ये पर्यावरण को विनष्ट करते हैं एवं ऋत के नियमों के उल्लंघनकर्ता हैं। सभी देव ऋत के उल्लंघनकर्ताओं को दण्डित करते हैं अथवा उनका वध करते हैं तथा संसार से हिंसाजन्य तत्वों का नाश करते हैं।

वेद के अनुसार समाज में जो लोग अकर्मा, अविचारशील, पापव्रती और अमानवतापूर्ण राक्षसोचित कार्य करते हैं, उन्हें सहन नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा विश्व में अमानवता का साम्राज्य हो जायेगा।[19] इन्हीं कारणों से अहिंसावादी होते हुए भी ऋग्वेद ने हिंसकों और दुष्टों से मानवजाति की रक्षार्थ युद्ध और हिंसा के प्रयोग का निर्देश दिया है। वेद का मन्तव्य है कि इस संसार में राक्षसों, घातकों और उपद्रवी लोगों का कल्याण न हो अपितु जो गाय, वीर और यश प्राप्ति

के लिये प्रयत्न करने वाले हों, उन्हीं का कल्याण हो।[20] हम अपने मित्र का ध्यान रखें किन्तु जो शत्रु गुप्त स्थान में रहकर हमको बाधा देता है हमारे ही बीच में रहकर हमारा नाश करता है उस शत्रु को अपने तेज से अथवा तप द्वारा तेजस्वी होकर अपने जरा रहित बलयुक्त तेज से नष्ट कर देना चाहिए।[21] मनुष्य राक्षसों से अपना बचाव करे, पापी और छली दुष्टों से अपने आपको सुरक्षित रखे और सेना लेकर आक्रमणकारी शत्रु का पराभव करने के लिये तैयार रहे।[22] मोह, क्रोध और मत्सर आदि दुर्गुण मानवता के लिये घातक हैं अतः ऋग्वेद में कहा गया है कि उल्लू, भेड़िये, कुत्ते, कोक पक्षी, गरुड़ और गिद्ध के समान आचरण करने वाले अर्थात् मोहग्रस्त, क्रोधी, मत्सरग्रस्त कामी, गर्विष्ठ और लोभी हैं उन्हें पत्थर से मारना चाहिए और अपनी रक्षा करनी चाहिए।[23] ऋग्वेद में मनुष्यों के बीच अपने को ही सबसे श्रेष्ठ मानने वाले घमण्डी मनुष्य को नष्ट करने की बात कही गयी हैं क्योंकि घमण्डी मनुष्य के कारण जगत् में स्पर्धा, युद्ध तथा घातपात होते हैं। पृथ्वी पर जब युद्ध आरंभ हो तो पुत्र, पशु और जलों की प्राप्ति और रक्षा के लिये शस्त्रधारी वीरों की सहायता ली जानी चाहिए।[24] इन्द्र मानवों पर दया करने वाले देव है[25] वे विश्व कल्याणार्थ युद्ध और हिंसा का प्रयोग करते दृष्टिगत होते हैं। जब राक्षस और दुष्ट बहुत बढ़ जाते है तब सर्वत्र अत्याचार करने लगते हैं जिन्हें देखकर द्यौ और पृथ्वी कांपने लगते हैं। तब इन्द्र वीरों के साथ इन अत्याचारियों पर आक्रमण करता है और अपने शस्त्रास्त्रों से उन्हें मारता है।[26] इन्द्र ने मिलकर लड़े जाने वाले, सुख प्राप्त कराने वाले युद्धों में सैकड़ों रक्षाओं से यजमान की रक्षा की। ज्ञानी मनुष्य के लिए नियम तोड़ने वालों को दण्ड दिया और काली त्वचा वालों को विनष्ट किया। वह जलाते हुए अग्नि के समान सारे हिंसकों को सर्वथा जला देता है।[27] इन्द्र दुर्बुद्धि और दुष्ट विचार वालों को प्रजा के मध्य नहीं रहने देता। अपने भक्तों से दुश्मन सा व्यवहार करने वाले तथा पापपूर्ण व्यवहार करने वाले को मारता है तथा मार्ग से दूर करता है।[28] इन्द्र लोगों के हित करने योग्य सब कर्मों को जानता है। शस्त्रों से भयंकर हुआ इन्द्र इन शत्रु सेनाओं के अन्दर प्रविष्ट होता है और शत्रुओं के नगरों को कंपाता है। हर्षित होकर अपनी महिमा से वज्र हाथ में लेकर शत्रु का वध करता है।[29] इन्द्र अपने पुरुषार्थ से पृथ्वी के ऊपर के सारे शत्रुभूत प्राणियों का पराभव करता है।[30] प्रजाहितैषी इन्द्र प्रजा का अहित करने वाले वृत्र को मारता है। इस मायावी दानव की मायाओं को बहुत दूर करता है।[31]

इस प्रकार इन्द्र विश्व कल्याण के लिये युद्ध और हिंसा करता है न कि बल प्रदर्शन, लोभ या गर्व के कारण। उत्तम कर्म करने, उत्तम प्रकार से प्राणियों का रक्षण करने, प्राणियों की हिंसा न करने तथा छल-कपट से रहित होने के कारण इन्द्र ऋत् रूप हैं।[32]

इन्द्र के अतिरिक्त अन्य देवता भी विश्व कल्याणार्थ युद्ध और हिंसा करते हैं। इन्द्र के तुल्य अग्नि को 'वृत्रहणम्' अर्थात् दुष्ट शत्रुओं का नाश करने वाला और 'पुरन्दरम्' शत्रु के नगरों को नाश करने वाला कहा गया है।[33] एक मंत्र में अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे अग्ने!

जो हमारे अन्न के सारभूत रस का नाश करता है, जो घोड़ों का गौओं का और अपने शरीरों का नाश करता है वह चोरी करने वाला चोर समाज का शत्रु है। वह अपने शरीर और संतान के साथ विनष्ट हो जावे।[34] अग्नि राक्षसों को संताप देने वाला और प्रजाओं का पालक है[35] अतएव अग्नि से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि - हे अग्ने ! तू हिंसकों, द्वेष करने वालों को मारता हुआ तथा राक्षसों को जलाता हुआ सर्वदा तीव्र तेज से प्रकाशित हो।[36] हे महातेजस्वी बलवान् अग्ने ! हमें राक्षसों से बचा। कंजूस धूर्तों से बचा। हिंसकों और घातकों से हमें सुरक्षित रख।[37] शुभ्र किरण वाला, अमर, पवित्र, शुद्धता करने वाला स्तुत्य अग्नि राक्षसों का नाश करता है उसी प्रकार से मनुष्य तेजस्वी, सर्वत्र पवित्रता और शुद्धता करने वाला होकर दुष्टों का नाश करने वाला हो।[38] सोम पापी को कभी नहीं छोड़ता तथा मिथ्या व्यवहार करने वाले बलवान को भी नहीं छोड़ता। वह राक्षस को मारता है तथा असत्य भाषण करने वाले को भी मारता है। ये दोनों अपराधी इन्द्र के बन्धन में रहते हैं।[39] बलवान इन्द्र से ऐसे पुत्र की याचना की गयी है जो अपने सामर्थ्य से शुत्र जनों से सामना कर सके और शत्रुओं का त्वरा से नाश कर सके।[40] वीर पुत्रों वाली अदिति देवी से प्रार्थना की गयी है कि हमारी दीन या अच्छी दोनों ही अवस्थाओं में मारने की इच्छा करने वाले लोग हमारे पुत्रादियों की हिंसा न करे।[41] अश्विदेवों ने शम्बर का वध करने के लिए किये गए युद्ध में अतिथिग्व, कशोयुज और दिवोदास की रक्षा की और त्रसदस्यु की शत्रु के किले तोड़ने में सहायता की। ऋषि प्रार्थना करता है कि यह काम जिन शक्तियों ने किया उन शक्तियों से वे अश्विद्वय हमारे पास आ जायें और हमारी सहायता करें।[42] इस प्रकार सभी देवाताओं से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि - हे रक्षा करने की इच्छा करने वाले देवो ! कुटिल शत्रुओं की हिंसा हमें कष्ट न दें। उस हिंसा से हमें मुक्त करो।[43] हे देवो ! हमें रथों से युक्त, मानवों की तृप्ति करने वाले, बहुत पुत्र-पौत्रों से युक्त, महान् सत्य का रक्षक ऐसा धन और अक्षय धन दें, जिससे हम शत्रु के सैनिकों पर और दुष्ट स्पर्धा करने वालों पर आक्रमण करें।[44] आर्यों द्वारा किये गए युद्ध और हिंसा मूल्य आधारित थे। ऋग्वेद के अनुसार वीर मनुष्य जब शत्रुओं से युद्ध करते हैं तब शस्त्रास्त्रों के लगने के कारण होने वाले दु:खों की बिल्कुल भी चिन्ता नहीं करते अपितु वीरता से लड़कर जो लोभी शत्रु होते हैं, उन्हें पशु की तरह बांधकर ले जाते हैं पर जो निर्बल होकर उनके पास आता है, उस पर अपने बल का प्रयोग नहीं करते तथा जो गर्दभ आदि निकृष्ट वाहनों पर बैठकर लड़ने आता है, उससे वे वीर अश्व आदि उत्कृष्ट वाहनों पर बैठकर लड़ने नहीं जाते।[45] वे शत्रुओं का नाश उत्तम बुद्धिपूर्वक करते हैं।[46]

मानव अकारण हिंसा करने से बचे, इस बात की ओर वेदों में विशेष ध्यान दिया गया है अत: अथर्ववेद (5,31,10) में कहा गया है कि कुमार्ग में चलने से हिंसा की प्राप्ति होती है किन्तु सुमार्ग से उसे दूर किया जा सकता है। मूढ़ मनुष्य मर्यादा धारण करने वाले पुरुषों से बिना सोचे उपाय कर सकता है। वेदों की हिंसा और हिंसक दोनों के प्रति अनास्था रही है अत: ऋग्वेद में

कहा गया है कि मनुष्यों को हिंसा तथा कुटिलतारहित कर्म करने चाहिए। उनमें दिव्य विबुधों को बुलाना चाहिए और उनका सम्मान करना चाहिए।[47] अत्यावश्यक होने पर ही वेदों में हिंसा के प्रयोग की आज्ञा दी गयी है। ऋषि कहता है कि- हम युद्ध में हिंसा कर्म करने वाले शत्रुओं को जीते तथा दुष्ट बुद्धि वालों पर भी शासन करें। वीरों की सहायता से वृत्र को मारे फिर इन्द्र का यश बढ़ावें तथा हमारी बुद्धि सुरक्षित रहे।[48] विश्व के कल्याण तथा रक्षण के लिये सर्वत्र फैले शत्रु का नाश किया जाना चाहिए, उसके पैर पकड़ कर पर्वत पर फेंक दिया जाना चाहिए।[49] इस प्रकार ऋग्वेद में विश्व कल्याणार्थ युद्ध और हिंसा का प्रयोग कर मानवता की रक्षा की गयी है। वर्तमान में भी युद्ध और हिंसा का प्रयोजन विश्वकल्याण हो तब ही विश्व का मंगल तथा मानवता का कल्याण हो सकेगा।

सन्दर्भ सूची

1. ऋग्वेद, 10.53.6
2. दृते दृंह मां मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
   मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
   मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।। यजुर्वेद, 36.18
3. स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि।
   उभे सुष्टुती सुगातवे।। अथर्ववेद, 6.1.3
4. अहिंसा परमो धर्मः - महा. भा. अनुशासन पर्व, 115.1; लाटी संहिता, 1.1
5. पद्म पुराण, 18.441
6. मातेवं सर्वभूतानामहिंसा हितकारिणी।
   अहिंसैव हि संसारमरावमृतसारिणी।।
   अहिंसा दुःखदावाग्नि प्रावृषेण्य धनावली।
   भवभ्रमिरुगार्तानाम हिंसा परमोषधी ।। योगशास्त्र, 2.51-52
7. उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्त प्रक्रामन्तः।
   पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ।। अथर्ववेद, 12.1.28
8. महा. भा., शान्तिपर्व, 15.25.26
9. तत्वार्थसूत्र, 7-8
10. आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति सः पश्यति; अन्यत्र द्रष्टव्य - यजुर्वेद 40.6,7; मनुस्मृति, 12.91, 125
11. य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये कविः।
    गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ।। अथर्ववेद, 8.6.23

12. अथर्वज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष - वही, 8.3.21
13. ऋग्वेद 1.31.13; 1.33.1; 1.95.9; 1.116.14 आदि
14. वही, 7.67.5
15. वही, 6.22.10
16. वही 6.68.6
17. वही 8.19.5
18. वही 7.94.8
19. अकर्मा दस्युरभि.................दम्भय - वही, 10.22.8
20. वही, 8.47.12
21. वही, 6.5.4
22. वही, 7.1.13
23. उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम् ।
    सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र ।। वही, 7.104.22
24. वही, 6.19.12
25. एको देवत्रा दयसे हि मर्तान् - वही, 7.23.5
26. वही, 1.133.6
27. वही, 1.130.8
28. वही, 1.131.7
29. वही, 7.21.4
30. वही, 7.21.6
31. वही, 211.1
32. सुगोपा असि दभाय सुक्रतो परो मायाभिर्ऋत आस नाम ते - वही, 5.44.2
33. वही, 6.16.14
34. वही, 7.104.10
35. अग्ने जरितर्विश्पतिस्तेपानो देव रक्षसः - वही, 8.60.19
36. वही, 8.43.26, अन्यत्र द्रष्टव्य - वही, 6.15.12
37. वही, 1.36.15 अन्यत्र द्रष्टव्य - वही, 1.36.20 1.74.2, ; 7.94.8

38. वही, 7.15.10

39. न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद् वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ वही, 7.104.13

40. वही, 6.20.1

41. वही, 8.67.11

42. वही, 1.112.14, अन्यत्र द्रष्टव्य - वही, 1.112.1-13, 15-23 (यहां टेक द्वारा कहा गया है- ताभिरू षु ऊतिभिरश्विना गतम्) ; 1.116.1-24

43. वही, 8.67.9

44. वही, 6.49.15

45. वही, 3.53.22

46. प्र स्वां मतिमतिरत् - वही, 1.33.13

47. वही,

48. वही, 8.21.22

49. जिनामि वेत् क्षेम आ सन्तमामुं प्र ते क्षिणां पर्वते पादगृह्य - वही, 10.27.4

भट्टिकाव्य का प्रधान रस-वीररस

विजय कुमारी गुप्ता
डी. ए. वी. कालेज, जालन्धर

रस काव्य का प्राणतत्त्व है। भारतीय मनीषियों ने तो रस को आनन्द स्वरूप माना है। उनके अनुसार रसानुभूति के द्वारा सहृदय परमानन्द (ब्रह्मानन्द) को प्राप्त करता है। रसमीमांसा का प्रथम श्रेय आचार्य भरत को है। वे नाट्यशास्त्र में रसनिष्पत्ति के विषय में लिखते है-

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः। (न. शा. ६/३२)

अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। भरत के मत में ये तीनों ही भाव सहृदयों के मन में वासना रूप में स्थित रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा एवं विस्मय नामक स्थायी भावों को उद्बुद्ध कर उन्हें आस्वाद्य बना देते हैं। इन स्थायी भावों की उद्बुद्धि के अनुसार ही शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत रस होते हैं।[1] रस का आस्वादन वस्तुतः स्थायीभाव का ही आस्वादन है। आचार्य भरत ने संयोग और निष्पत्ति पदों की कोई स्पष्ट व्याख्या नहीं की है परन्तु परवर्ती आचार्यों ने इन पदों की मीमांसा अपने-अपने ढंग से की है। इन्हें भारतीय रससिद्धान्त के चार मूल स्तम्भ भी कह सकते हैं।

1. भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद
2. आचार्य शंकुक का अनुमितिवाद
3. भट्टनायक का भुक्तिवाद
4. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

इन चारों सिद्धान्तों के विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आत्मा आनन्दस्वरूप है। रस के द्वारा आनन्दानुभूति होती है इसीलिए काव्यानन्द को ब्रह्मानन्दसहोदर माना गया है। काव्यानन्द वासना की स्थिति होने पर प्राप्त होता है और ब्रह्मानन्द वासना के क्षय होने पर। इसीलिए काव्यानन्द ब्रह्मानन्द-स्वरूप न होकर तत्सहोदर कहा गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि काव्यानन्द रागात्मक है और ब्रह्मानन्द ज्ञानात्मक। इस प्रकार रस की आनन्दमयी प्रतिष्ठा निर्बाध है।

संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने विभिन्न रसों की अवतारणा तो की है परन्तु वे प्रधान या अङ्गीरस की चर्चा में मौन रहे हैं। यद्यपि आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में प्रधान रस की चर्चा की है परन्तु उसकी विशद विवेचना नहीं की। प्रधान रस की विशद विवेचना का श्रेय आचार्य आनन्दवर्धन को है परन्तु आनन्दवर्धन ने भी किसी विशेष रस को प्रधान रस के रूप में निर्दिष्ट नहीं किया। कविराज विश्वनाथ ने स्पष्ट किया है कि महाकाव्य में शृंगार, वीर और शान्त रसों में

से एक को प्रधान रस के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए।[2] इस दृष्टि से विचार करने पर पता चलता है कि महाकवि भट्टि ने अपने महाकाव्य में लगभग सभी रसों की अवतारणा की है परन्तु उनके महाकाव्य का प्रधान रस - वीररस है। अब हमें पहले वीररस के स्वरूप को जानना चाहिए।

वीररसः आचार्य भरत के अनुसार वीररस का स्थायी भाव उत्तम प्रकृति का उत्साह होता है।[3]

वीररस का स्थायी भाव-उत्साहः आचार्य विश्वनाथ ने किसी कार्य को सम्पन्न करने के अवसर पर व्यक्तियों में दृष्टिगत होने वाले स्थिरतर आवेश को उत्साह स्थायिभाव के नाम से अभिहित किया है।[4]

उत्साह मन की ऐसी उमंग है जो कर्म में प्रवृत्त कराती है। कर्म भी सामान्य नहीं होता, असामान्य होता है। सामान्य कर्म में तो सभी प्रवृत्त होते हैं पर असाधारण कर्म में उत्साही ही प्रवृत्त होता है। कर्म में प्रवृत्त होने के पहले से लेकर कर्म की समाप्ति तक उत्साह के साथ कई अन्य भाव भी उत्साही के हृदय में तरंगित होते रहते हैं। ये भाव हैं- आनन्द, आशा, सन्तोष और आत्मविश्वास।

विभावः भरत के अनुसार असंमोहाध्यवसायादि वीररस के विभाव होते हैं।[5] आचार्य विश्वनाथ के अनुसार विजेतव्यादि व्यक्ति वीररस का आलम्बन होता है तथा उसकी चेष्टादि उद्दीपन विभाव होते हैं।[6]

अनुभावः आचार्य भरत ने स्थैर्य, धैर्य, शौर्य-अर्थात् युद्धादि क्रिया, त्याग अर्थात् दान तथा सामादिक उपायों के आवश्यकतानुसार प्रयोग को वीररस का अनुभाव स्वीकार किया है।[7] विश्वनाथ ने सहायान्वेषण को भी वीररस का अनुभाव स्वीकार किया है।[8]

व्यभिचारीः भरत के अनुसार धृत्यादि भाव वीररस का परिपोष करते है।[9] विश्वनाथ के अनुसार धैर्य, गर्व, स्मृति, तर्क, रोमाञ्च आदि इसके संचारी भाव हैं।[10]

वीररस के भेदः भरतमुनि ने वीररस के तीन भेद माने हैं- युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर।[11] विश्वनाथ ने वीररस के चार भेद माने हैं- युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर, दयावीर।[12]

भट्टिकाव्य में वीररसः भट्टिकाव्य का मुख्य रस वीररस है। लक्षणग्रन्थों में वर्णित वीररस के युद्धवीर, दानवीर, धर्मवीर, दयावीर चारों प्रकार भट्टिकाव्य में अपनी सम्पूर्ण उत्कृष्टता तथा विशालता के साथ दिखाई देते हैं। इसमें राम एक वीरनायक हैं, उनकी वीरता एकांगी नहीं है। उनमें भुजबल का ही प्राधान्य नहीं है अपितु कर्त्तव्य की रक्षा के लिए सत्त्वगुण अथवा आत्मबल का प्राधान्य है। राम की वीरता केवल समरशौर्य में सीमित नहीं है अपितु वीरता के सूक्ष्म आत्मिक गुणों से संगठित है। उनके अवयव हैं- त्याग, साहस, क्षमा, औदार्य, सहिष्णुता और अपार प्रेमशक्ति।

भट्टिकाव्य का प्रधान रस-वीररस

यद्यपि रावण-विजेता राम मुख्य रूप से युद्धवीर ही हैं परन्तु विभीषण को लंका का राज्य समर्पित करते हुए उनका दानवीर रूप गरिमा के साथ दीप्त हो रहा है। पिता की आज्ञा से राजवैभव त्यागकर वनगमन में उनकी धर्मवीरता दिखाई देती है तो अनेक अवसरों पर उनका दयावीर रूप भी मोहनीय है।

युद्धवीरः वीररस का यह सर्वसम्मत एवं प्रमुख प्रकार है क्योंकि कर्म की विविधता, परिस्थितियों की प्रचुरता, सभी प्रकार के संचारी भावों, अनुभावों, उद्दीपनों आदि के दर्शन सबसे अधिक इसी में होते हैं। यही एक ऐसा भेद है, जो विस्तार से शृंगार-रस के सम्मुख आ सकता है, युद्धवीर में लड़ने की प्रवृत्ति होती है। शरीर, बुद्धि, धन, मन इत्यादि सभी प्रकार की शक्तियों का प्रदर्शन इसमें होता है। और भेदों में जहाँ लोग मृत्यु के वरण में उत्साह प्रदर्शित करते हैं, वहाँ युद्धवीर में मृत्यु को जीतने में उत्साह दिखाते हैं। यही इसकी विशिष्टता है, जिसकी छाप हृदय पर सबसे गहरी पड़ती है।

भट्टिकाव्य में वीररस के इस भेद की विस्तृत योजना है। राम-लक्ष्मण ने ताड़का, मारीच, विराध, खर-दूषण आदि अनेक बलवान राक्षसों का वध करके अपनी वीरता अनेक स्थानों पर प्रदर्शित की है।

विराध तथा खरादि राक्षसों के वध में राम की वीरताः राम-लक्ष्मण तथा सीता के वन में ऋषि-मुनियों की सेवा करके जीवन व्यतीत करते हुए, भंयकर आकृति वाले विराध राक्षस के सीता को उठाकर ले जाने का प्रयत्न करने पर, राम-लक्ष्मण का अपनी अदम्य वीरता का प्रदर्शन करते हुए उस राक्षस का वध करने[13] तथा खर द्वारा भेजे गये अनेक सिर वाले राक्षसों[14] और त्रिशिरा राक्षस के मारे जाने पर[15] खर का युद्ध प्रारम्भ करने और अन्त में मारे जाने के प्रसंग[16] में राम की वीरता का परिचय मिलता है।

इन प्रसंगों में राम वीररस के उत्कृष्ट आलम्बन हैं। खरादि राक्षसों का शस्त्र-प्रहार करना उद्दीपन विभाव हैं। राम का अद्भुत शौर्य प्रदर्शित करना, कुपित होकर भंयकर तीरों की वर्षा से आकाश को ढकना अनुभाव है। औत्सुक्य, आवेग आदि संचारी भावों से परिपुष्ट 'उत्साह' स्थायी भाव व्यंग्य है।

हनुमान् की वीरताः वीर हनुमान् का विशाल सागर को पारकर सीता की खोज की अवधि में लंका नगरी में पहुँचकर वीरता का प्रदर्शन करते हुए अनेक राक्षसों को मृत्यु के मुख में पहुँचाने, रावण के संकेत पर अक्षय कुमार का युद्ध के लिए तैयार होकर घोड़े, हाथी, रथों के साथ अशोकवाटिका के द्वार पर वीर हनुमान् के पास पहुँचने[17], वहाँ इन्द्रजाल की रचना करते हुए हनुमान्[18] तथा अनेक शस्त्रों से प्रहार करते हुए अक्षयकुमार का अपनी शक्ति का परिचय देने[19] और अन्त में अक्षयकुमार का हनुमान् के प्रचण्डाघातों से मारे जाने के[20] वर्णन में हनुमान् की वीरता उच्चकोटि की है।

अक्षयकुमार का वध कर अपनी वीरता और अदम्य उत्साह का परिचय दे चुके, हनुमान् की पूँछ में आग लगाने पर भी, वे अद्भुत शौर्य का प्रदर्शन करते हुए सारी लंका को जलाने में उत्साह के साकार रूप में प्रतीत होते हैं। भय, शंका, ग्लानि आदि भाव उन्हें दूर-दूर तक छू नहीं पाते।

यहाँ हनुमान् वीररस के आलम्बन विभाव है। हनुमान् और अक्षयकुमार का युद्ध के अवसर पर उत्साह स्थायीभाव है। हनुमान् का गम्भीर गर्जना करना, इन्द्रजाल की रचना आदि अनुभाव है। औत्सुक्य, आवेग, गर्व, अमर्ष आदि संचारीभावों से परिपुष्ट 'उत्साह' स्थायीभाव व्यंग्य है।

लंका-युद्ध में वीररसः महाकवि भट्टि ने वीररस के प्रमुख प्रकार युद्धवीर की सुन्दरतम छटा भट्टिकाव्य के चतुर्दश, पञ्चदश, सप्तदश सर्गों में प्रदर्शित की है। राम-रावण का भयानक युद्ध न केवल भारतीय इतिहास की अपितु विश्व इतिहास की रोमाञ्चकारी अविस्मरणीय घटना है। राम का महान् योद्धा का दिव्य रूप, जो सबके हृदयों को उत्साहित करने वाला है। राक्षसराज रावण को कुम्भकर्ण, मेघनाद तथा अपनी सेना एवं वीरता पर बहुत गर्व था इसलिए वह राम की वीरता का उचित मूल्यांकन नहीं कर पा रहा था किन्तु विभीषण राम के पराक्रम को भलीभाँति जानता था इसलिए वह रावण को युद्ध-मार्ग से हटाने के लिए उसके समक्ष राम की वीरता का वर्णन करते हुए कहता है कि कुम्भकर्ण और मेघनाद की तो बात ही क्या? सूर्य, इन्द्र, वायु, यम आदि देवता भी राम के हाथ से रावण को नहीं बचा सकते।[21]

देवासुर-संग्राम की भाँति राक्षसों और वानरों के घोर युद्ध से पृथ्वी, आकाश औा समुद्र के निनादित होने और राक्षसों के द्वारा गदाओं, शूलों, फरसों से तथा वानरों के द्वारा पर्वत-शिखरों, नखों, दाँतों से एक-दूसरे पर प्रहार करने पर[22], बलवान् वानरों के द्वारा राक्षस-सेना के भीतर हलचल मचा देने तथा सम्पाति के द्वारा प्रजङ्घ को, विभीषण द्वारा मित्रघ्न को, लक्ष्मण द्वारा विरूपाक्ष आदि को मारने से बढ़े हुए क्रोध वाले प्रहस्त और नील में घोर युद्ध का वर्णन तथा अन्त में नील द्वारा पर्वतखण्ड के प्रहार से प्रहस्त को मारने के वर्णन में वीररस की छटा देखी जा सकती है।

इस प्रकार हम देखते है कि चतुर्दश सर्ग में वीररस की मन्दाकिनी प्रबल रूप से प्रवाहित हो रही है। कवि द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द वीररस को पुष्ट करने वाला है। दोनों ओर की सेनायें आलम्बन विभाव है। उनका वीरता युक्त कार्य उद्दीपन विभाव है। वीरों का सिंहनाद, शंख एवं दुन्दुभि की गर्जना, उनके शरीरों से प्रवाहित होती हुई रक्त की धाराएँ अनुभाव है। अमर्ष, आवेग, गर्व, औत्सुक्य आदि संचारी भावों से पुष्ट 'उत्साह' स्थायी भाव व्यंग्य है जिससे वीररस की अभिव्यंजना होती है।

राम और कुम्भकर्ण के युद्ध में वीररसः

राम और कुम्भकर्ण का भयानक युद्ध भी भट्टिकाव्य का वीर-रसोत्पादक प्रसंग है। कुम्भकर्ण ने युद्ध-भूमि में आकर सहस्त्रों वानर-वीरों को धराशायी कर दिया। महाकवि भट्टि ने युद्ध वर्णनों के अवसरों पर कहीं भी विपक्षी पात्रों की वीरता वर्णित करने में कृपणता नहीं दिखाई क्योंकि रामादि की वीरता तभी प्रकट होती है जब वे महान् बलशाली राक्षसवीरों को पराजित करते हैं। किसी साधारण व्यक्ति को पराजित करने में वीरता का महनीय रूप प्रकट नहीं होता।

कुम्भकर्ण द्वारा वानरों की सामर्थ्य समाप्त किये जाने, अंगद के द्वारा वानरों के बल को बढ़ाते हुए उन्हें पुनः युद्ध के लिए प्रेरित करने और स्वयं भी उनका साथ देने पर विभीषण के द्वारा कुम्भकर्ण की शक्ति का परिचय मिलते ही राम-लक्ष्मण के आदेश से वानरों का फिर से कुम्भकर्ण पर आक्रमण करने, सुग्रीव और हनुमान् के कुम्भकर्ण के साथ युद्ध करने[23], सुग्रीव के मूर्छित होने[24], लक्ष्मण द्वारा कुम्भकर्ण के मुकुट और कवच काट ड़ालने के प्रसंग में[25] तथा तदनन्तर राम का उन बाणों से प्रहार करने जिनसे पहले खर-दूषण, मारीच आदि को मारा था परन्तु कुम्भकर्ण का डटकर मुकाबला करने[26], राम द्वारा एक हाथ को वायव्य से तथा दूसरे को शक्रास्त्र से काटने, हृदय को ऐन्द्रास्त्र तथा बाणों से जंघाओं को काटने पर कुम्भकर्ण की मृत्यु होने और देवताओं द्वारा राम की स्तुति करने[27] आदि के प्रसंग वीररस के सुन्दर स्थल हैं।

यहाँ राम और कुम्भकर्ण आलम्बन विभाव हैं। एक-दूसरे पर किये गए कठोर प्रहारादि उद्दीपन विभाव हैं। कुम्भकर्ण के अंग-प्रत्यंगों का कटकर भूमि पर गिरना तथा मृत्यु को प्राप्त होना, देवताओं का हर्षनाद आदि अनुभाव हैं। औत्सुक्य, गर्व, अमर्ष, विषाद, मूर्छा आदि संचारी भावों से परिपुष्ट 'उत्साह' स्थायीभाव वीररस की अभिव्यंजना करता है।

लक्ष्मण-मेघनाद युद्ध में वीररसः लंका के युद्ध में जहाँ राम-रावण के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी योद्धा के रूप में वर्णित हैं वहाँ लक्ष्मण-मेघनाद को भी परस्पर प्रतिद्वन्द्वी के रुप में चित्रित किया गया है। दोनों ही महान् हैं जो कभी युद्धक्षेत्र में पराजित नहीं हुए। एक-दूसरे को रोषपूर्ण वचन कहते हुए भयानक अस्त्र-शस्त्रों की वर्षा करते हैं।

विभीषण द्वारा पिता के दोषों को सुनकर क्रोधित हुए मेघनाद का अपने चाचा तथा लक्ष्मण पर प्रहार[28], लक्ष्मण द्वारा मेघनाद के सारथि, घोड़े, रथ को तोड़ने, मेघनाद के लक्ष्मण पर बाणों की बौछार करने तदनन्तर लक्ष्मण द्वारा वरुणास्त्र और माहेश्वरास्त्र-प्रयोग तथा मेघनाद द्वारा रौद्रास्त्र और आसुरास्त्र- प्रयोग करने[29], लक्ष्मण द्वारा मेघनाद को मारकर देवताओं और कपि-सेनानियों को प्रसन्न करने[30] तथा राक्षसी सेना और रावण को रुलाने[31] आदि से सम्बन्धित स्थल वीररस की सुन्दर अभिव्यक्ति करते हैं।

यहाँ लक्ष्मण और मेघनाद के युद्ध का वर्णन करते हुए अनुभावों की इतनी सुन्दर योजना की गई है कि सहृदय वीररस की सरिता में आकण्ठ निमग्न हो जाता है।

राम-रावण-युद्ध में वीररसः- पुत्रवध से सन्तप्त रावण का राम की सेना पर आक्रमण, धनुर्धारी राम द्वारा हाथी, घोड़े, पैदल सेना का संहार करके यमपुरी तैयार करने[32], रावण द्वारा रास्ते में होने वाले अपशकुनों की परवाह न करते हुए अपने भयंकर रथ पर सवार होकर नदी, पर्वत, वनों सहित पृथ्वी को गुंजाते हुए अनेक वानरों को मारकर लक्ष्मण को व्यथित करने[33], राम द्वारा सर्पसदृश बाणों से रावण को ढकने, रावण द्वारा आसुरास्त्र और रौद्रास्त्र तथा राम द्वारा पावकास्त्र और गन्धर्वास्त्र छोड़ने, विभीषण द्वारा घोड़ों को मारने और रथ को तोड़ने पर रावण द्वारा उस पर भारी शक्ति छोड़ने[34], लक्ष्मण द्वारा शक्ति के तीन टुकड़े करने तथा रावण को युद्धभूमि से भगाने और लक्ष्मण को मूर्छित करने[35], राम द्वारा असंख्य बाणों कर वर्षा कर रावण को युद्धभूमि से भगाने और लक्ष्मण को सचेत करने[36] के लिए हनुमान् द्वारा औषधियाँ लाने के अवसर पर अनेक वीरोचित कार्य करने सम्बन्धी स्थल वीररस की सुन्दर छटा बिखेरते हैं।

राम और रावण का यह भयानक युद्ध चलता रहा। दोनों ओर की सेना का संहार होता रहा और युद्ध का वह अन्तिम दिन भी आ गया, इतिहास जिसकी प्रतीक्षा कर रहा था। महाकवि भट्टि की वाणी जिसका वर्णन करने के लिए लालायित थी, जिसको सम्पूर्ण जगत् देख रहा था और जो वीररस का सर्वश्रेष्ठ प्रसंग बना।

रावण का फिर से युद्ध के लिए आना, मातलि द्वारा विशेष रूप से सजे रथ पर सवार राम द्वारा अनेक अस्त्रों का प्रहार, अनेक अपशकुन, राम-रावण-युद्ध से वसुन्धरा का कांपना, विषधर सर्पों के समान बाणों के सन्धान से राम का रावण के 101 सिरों को काटना, मातलि का ब्रह्मा जी द्वारा रावण के वध के लिए बनाये गये उग्रशस्त्र का स्मरण कराना, जिसके पाँख में वायुदेव, मुख में सूर्य और अग्नि थे, उस ब्रह्मास्त्र द्वारा राम का रावण को पृथ्वी पर सुलाना, देवताओं का राम की प्रशंसा करना[37] दर्शनीय है।

दानवीरः- दानवीर वही कहा जाता है जो दान देने में उत्साह दिखाता है। वैसे तो सभी कुछ न कुछ दान करते हैं, किन्तु सभी को दानवीर नहीं कहा जाता। दान देने में ही जिसे प्रसन्नता होती है जिसे दुःख का अनुभव नहीं होता अथवा जिसके दान में उत्साह, जो वीररस का स्थायी भाव है, स्पष्ट रुप से परिलक्षित होता है, वही सच्चा दानवीर कहलाता है। ऐसे प्रसंगों में ही वीररस के 'दानवीर' नामक भेद की सुन्दर अभिव्यक्ति होती है।

राजा दशरथ की दानवीरता :- भट्टिकाव्य में सर्वप्रथम राजा दशरथ की दानवीरता दिखाई देती है। मेघों के द्वारा सर्वत्र समान वर्षा करने के समान राजा दशरथ का पक्षपात रहित

होकर प्रजाओं में धन की वृष्टि करने[38], तथा पुत्रेष्टि यज्ञ का अनुष्ठान करने वाले सभी ऋत्विजों को समुचित दान देने वाले[39] प्रसंगों में उनकी दानवीरता का परिचय मिलता है।

राम की दानवीरता :- पिता की आज्ञा से राम चौदह वर्ष के वनवास के लिए प्रस्थान के समय धन-धान्य से परिपूर्ण वसुधा को भरत के लिए छोड़ना, राज्य, सुख, पृथ्वी, स्वर्गप्राप्ति की अपेक्षा अपना सब कुछ देने में ही आनन्द अनुभव करना, जन्म देने वाले तथा भय से रक्षा करने वाले पिता के लिए सर्वस्व त्याग को सर्वश्रेष्ठ मानना[40] इत्यादि राम की दानवीरता को बताने वाले स्थल हैं। कितना महान् त्याग है राम का - जो पृथ्वी का राज्य भरत को तिनके के समान प्रदान कर रहे हैं।

लंकायुद्ध की समाप्ति पर, स्वर्ग से भी बढ़कर वैभवशाली लंका के राजा होने पर भी राम का हँसते-हँसते विभीषण को राज्य प्रदान करना राम की दानवीरता का उत्कृष्ट नमूना है। संसार में ऐसे दानवीर बहुत कम हुए हैं जिन्होंने हस्तगत राज्यलक्ष्मी को इस प्रकार दान किया हो। श्रीराम का स्वर्णिम घट के जल से विभीषण का राज्याभिषेक करना[41] तथा राजनीति का उपदेश देना[42] और शुभाशीर्वाद देना[43] आदि प्रसंगों में राम का दानवीर रुप प्रकट होता है।

धर्मवीर :- जहाँ धर्मकार्य में उत्साह दिखाई दे वहाँ उत्साही धर्मवीर कहा जाता है। राम धर्मज्ञ एवं धर्मचारिन् हैं। वे प्रत्येक परिस्थिति में अपने धर्म का पूर्ण पालन करते हैं। वे कभी भी धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण करते हुए दिखाई नहीं देते, अतः स्वधर्मनिष्ठ राम को शरीरधारी धर्म भी कहा गया है। न केवल राम अपितु सीता, लक्ष्मण, भरत, हनुमान् आदि अनेक प्रमुख पात्र भी अपने आदर्श जीवन द्वारा धर्म के उच्चतम स्वरुप को प्रतिष्ठित करते हैं।

मानव का जीवन विभिन्न व्यक्तियों में विभक्त होता है। परिवार, देश, जाति, समाज के प्रति उसके पृथक्-पृथक् उत्तरदायित्व होते हैं। महापुरुष सामाजिक सर्वजनहितकारी कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हुए अपने व्यक्तिगत सुखों का परित्याग कर एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार का कार्य करते हुए अनेक कष्टों को सहन कर वे सच्चे वीर कहलाते हैं। भट्टिकाव्य में ऐसे धर्मवीरत्व के अनेक उदाहरण मिलते हैं।

राम की धर्मवीरता :- राम के राज्याभिषेक को सहन न करने वाली कैकेयी द्वारा राम को चौदह वर्ष का वनवास तथा भरत का राज्याभिषेक महाराज दशरथ से वरदान के रूप में माँगने, प्रजा के शोकमग्न होने पर राम के द्वारा उनको समझाने, पिता की आज्ञा का पालन पुत्र का सर्वश्रेष्ठ धर्म बताने[44], समस्त पृथ्वी के राज्य का परित्याग कर वन जाने के लिए उत्सुकता दिखाने वाले[45] स्थल राम की धर्मवीरता के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। ऐसे अवसर पर सर्वलोकातीत जीवन्मुक्त महात्मा की भान्ति राम के मन में थोड़ा सा भी विकार नहीं है। वे स्वयं ही धर्म का पालन नहीं करते अपितु माता कौशल्या, पत्नी सीता, भाई लक्ष्मण को भी धर्मपालन का अनुरोध करते हैं।

सीता की धर्मवीरता :- सीता के चरित्र में भी धर्मपालन का उत्साह अपनी चरमसीमा पर स्थित दिखाई देता है। भारतीय संस्कृति में नारी का सर्वस्व पति को माना गया है। पति के अनुकूल आचरण करते हुए तन-मन से उनकी सेवा में ही सम्पूर्ण जीवन लगा देना भारतीय नारी का धर्म है। सीता पतिव्रत धर्म का साकार रूप है। अपने पति के साथ वन में कठोर जीवन को बिताने का संकल्प करते हुए वे धर्मवीरत्व का परिचय देती हैं।

लक्ष्मण की धर्मवीरता :- युद्धभूमि में हँसते-हँसते अपने प्राणों को समर्पित करने के लिए उद्यत रहने का उत्साह ही केवल वीररस का स्थायीभाव नहीं है अपितु जीवन की विस्तृत एवं कठोर भित्ति पर स्वधर्म का पालन करने में उपस्थित होने वाली बड़ी से बड़ी आपदा को सहर्ष कण्ठहार बनाने का उत्साहयुक्त चित्र भी वीर-रसोत्पत्ति में किसी प्रकार कम नहीं हो सकता। वीर पुरुष आवेश में आकर खड्ग के एक ही प्रहार से शत्रु-ग्रीवा को धड़ से विच्छिन्न कर सकता है और अपने कलेवर को तीरों की वर्षा में स्नान करा सकता है किन्तु दीर्घकाल तक धर्म का आचरण करते हुए तिल-तिल कर जलना वस्तुत: कठिन कार्य है। सीता और लक्ष्मण ने इसी वीरता का परिचय दिया है। एक नहीं, दो नहीं अपितु चौदह वर्ष की दीर्घावधि के लिए वन के कठोर कष्टों को सुख समझकर गले लगाने की अभिलाषा धर्मवीरता के इतिहास का स्वर्णिम अध्याय है।

दयावीर :- राम के चरित्र में दयावीरता भी विद्यमान है जो अनेक प्रसंगों में प्रकट होकर वीररस की व्यंजना करती है। कहीं वह दानवीरता के साथ और कहीं धर्मवीरता के साथ मुखरित होती है।

सीता की खोज करते हुए राम को जटायु का दर्शन, जटायु का अपनी करुण व्यथा सुनाते हुए सीता का पता बताना, राम द्वारा जटायु का अन्तिम संस्कार तथा पिण्डदान करना,[48] साथियों के मना करने पर भी राम का शरणागत विभीषण को आश्रय प्रदान करना[49] आदि प्रसंगों में राम की दयावीरता का परिचय मिलता है। यदि राम के समुद्र सम हृदय में दया की लहरें न उठतीं तो वे विभीषण को शत्रुपक्ष का गुप्तचर समझकर उसका वध करवा सकते थे।

लंका के युद्ध में राम के बाणों के प्रहार से घायल रावण के हाथ से धनुष छूटने पर असहाय रावण के प्रति राम के दयार्द्र अन्त:करण में क्रूर राक्षस के प्रति भी दया का भाव उठना तथा रावण की मृत्यु के पश्चात् शत्रुता को विस्मृत कर स्वयं उसकी अन्त्येष्टि-कर्म के लिए विभीषण को आज्ञा देना[50] आदि प्रसंग राम के दयावीरत्व के सुन्दर निदर्शन हैं।

निष्कर्ष:- उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि भट्टिकाव्य राम जैसे सर्वशक्ति सम्पन्न, उत्साह के सागर, धर्म के धाम, परम-दयालु, महान् वीर नायक की प्रमुख घटना है। अत: वीररस की प्रभावशाली योजना करने में कवि को पूर्ण सफलता मिली है। भट्टिकाव्य में वीररस का अत्यन्त उज्ज्वल, ओजस्वी, हृदयावर्जक रूप परिलक्षित होता है। वीररस के चारों भेदों की प्रभावशाली योजना में कवि सफल हुआ है। नायक राम के अतिरिक्त लक्ष्मण, सुग्रीव, हनुमान्

आदि सपक्ष के पात्रों तथा रावण, कुम्भकर्ण, इन्द्रजित् आदि विपक्ष के पात्रों के माध्यम से वीररस की हृदयग्राही योजना की गई है।

सन्दर्भ सूची

1. नाट्यशास्त्र - 6/15-17 तक
2. साहित्यदर्पण - 6/17
3. अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। ना0 शा0 पृष्ठ 324
4. सा0 द0 - 3/178
5. स चासंमोहाध्यवसाय-नय-विनय-बल-पराक्रम-शक्ति-प्रताप-प्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। ना0 शा0 अभि0-पृष्ठ-324
6. सा0 द0-3/233
7. ना0 शा0 अभि0-324
8. अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणायः। (सा0 द0-3/233)
9. ना0 शा0 - पृष्ठ 324
10. सा0 द0 - 3/234
11. ना0 शा0 - 6/79
12. सा0 द0 - 3/234
13. अवाक्शिरसमुत्पादं कृतान्तेऽपि दुर्दमम्। भुङ्क्त्वा भुजौ विराधाख्यं तं तौ भुवि निचख्नतुः।। भट्टिकाव्य 4/3
14. वही-4/41-45
15. निराकरिष्णू वर्तिष्णू वर्धिष्णू परितो रणम्।
उत्पतिष्णू सहिष्णू च चेरतुः खरदूषणौ।। 5/1
16. वही-5/2, 3
17. वही-9/26, 27, 28
18. वही-9/29, 30, 32, 33
संयुयूषं दिशो बाणैरक्षं यियविषुर्द्रुमः।
कपिर्मायामिवाऽकार्षीद्दर्शयन् विक्रमं रणे।। 9/35
19. वही-9/31, 34, 36, 37
20. मायाभिः सुचिरं क्लिष्ट्वा राक्षसोऽक्लिशितक्रियम्।
सम्प्राप्य वानरं भूमौ पपात परिघाऽऽहतः।। वही-9/38
21. वही-12/39
22. वही-14/1-10, 23, 24, 25, 26, 27, 31, 33, 34, 35, 40, 41, 42, 80, 81, 110, 111

23. वही-15/31, 32, 33, 34, 35, 36, 37

24. वही - .15/54, 55, 56

25. वही - 15/65

26. वही - 15/66

27. वही - 15/67, 69, 70

28. वही - 17/40, 41

29. वही - 17/42, 43, 44, 45, 46

30. वही - 17/47

31. वही - 17/48

32. वही - 17/64, 65, 66, 67, 68

33. वही - 17/73, 74, 75

34. वही - 17/76...........90 तक

35. वही - 17/91, 92

36. वही - 17/93, 94

37. वही - 17/95..............112 तक

38. वसूनि तोयं धनवद्व्यकारीत् सहाऽऽसनं गोत्राभिदाऽध्यवात्सीत्। वही - 1/3

39. निष्ठां गतेदत्त्रिमयभ्यतोषे विहित्रिमे कर्मणि राजपत्न्यः।। वही - 1/13

40. असृष्ट यो यश्च भयेष्वरक्षीत् यः सर्वदाऽस्मानपुषत्स्वपोषम्।
महोपकारस्य किमस्ति तस्य तुच्छेन यानेन वनस्य मोक्षः।। वही- 3/13

41. वही - 19/23

42. वही - 19/24, 25............29 तक

43. वही - 19/30

44. वही - 3/12

45. वही - 3/13, 14

46. वही - 3/30, 31, 32

47. वही - 3/54, 55, 56

48. वही - 6/42, 43, 44

49. वही - 12/87

50. वही - 18/42

विश्वकल्याण के सूत्र

भैरवदत्त शुक्ल
बलदेव वैदिक विद्यालय इण्टर कालेज
पलिया कलाँ, खीरी (उ०प्र०)- २६२९०२

(१) न केवल यूरोप में वरन् भारत में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो परम कल्याणकारी उपनिषदों में निवृत्ति मार्ग की ही झलक पाते हैं। उन्हें उपनिषदों में कहीं भी प्रवृत्ति मार्ग की आभा तक दृष्टिगत नहीं होती। अन्य उपनिषदों की ही भांति ईशोपनिषद् को केवल संसार त्याग का प्रतिपादक ग्रंथ मानने वाले भ्रम में हैं- किसी न किसी अज्ञान मूलक भुलावे के शिकार हैं। ठोस वास्तविकता तो यह है कि समग्र वेदानुमोदितउपनिषदों में सम्पूर्ण संसार के प्रति एवं समष्टि परक लोकहित कारक कर्मपथ की श्रेष्ठता स्वीकार की गयी है। यदि हम चाहते हैं कि हम समष्टि परक लोककल्याण के पथिक बनें तो हमारे समाने सदैव ईशोपनिषद् के ये छह सूत्र बने रहने चाहिए-

(२) **तेन त्यक्तेन भुंजीथा**

ईश्वर के छोड़े हुए भाग- रूप संसार के प्रत्येक भोग्य पदार्थ का भोग करो। अर्थात् जितने भी संसार के पदार्थ उपकारक उपादान हैं, उन सब का समुचित उपभोग करो किन्तु सभी प्राणियों के नियत भाग उनमें सर्वप्रथम वितरित कर देने के उपरान्त ही। कितनी सुन्दर धारणा है, जो इसे हृदयंगम कर लेगा या जो इसे व्यावहारिक धरातल पर अवतीर्ण करने का सत्प्रयास करेगा, वह विश्व के किसी भी कोने का निवासी क्यों न हो, किसी भी मत या सम्प्रदाय का सदस्य क्यों न हो, किसी विशेष आस्था या निष्ठा से सुसम्बद्ध, बद्ध-विवश क्यों न हो, मगर देश के नाम पर मत या संप्रदाय के नाम पर, आस्था निष्ठा के नाम पर या आर्थिक लाभ के तुच्छ प्रलोभन में पड़कर किसी का शोषण नही करेगा, अनाप-शनाप रूप में किसी प्राकृतिक उपकरण का दोहन नहीं करेगा, किसी के प्रति घृणा नहीं पालेगा और ईर्ष्या-बुद्धि को तो, पनपने ही नहीं देगा।

(३) वह पीड़ित व्यक्ति की विपत्ति का निवारण करेगा, सन्तप्त प्राणी का परिताप-हरण करने का इच्छुक होगा, लोकोपकार की दीक्षा लेगा। केवल पशुवत् स्वार्थपूर्ति के हेय प्रलोभन में औरों के दबाने-कुचलने के बुरे घिनौने काम में भूलकर भी नहीं उलझेगा। वह यदि अणु-परीक्षण करेगा तो किसी देश को त्रस्त-आतंकित करने के लिए नहीं वरन्

तिमिर-उन्मूलन के लिए, यातायात के सौकर्म-व्यवस्था के लिए, लोक प्राप्ति की अभिवृद्धि के लिए यज्ञ-अनुष्ठान के रूप में करेगा। यज्ञ का नाम सुन कर साम्प्रदायिकता की गंध पाने के भ्रम में नाक-भौं सिकोड़ने वाले ध्यान में रक्खें कि वस्तुत: यज्ञ उसे ही समझना चाहिए, जिसमें अशक्त-असमर्थों को शक्ति-सामर्थ्य प्रदान करने (दान) अन्वेषण-रत, लोक-हितार्थ तपस्या-लीन, औषधि-उपचार की खोज में लगे ऋषि-मुनिवत् लोकोपकारी लोगों की सुख-सुविधा का ध्यान, स्वागत-सम्मान, आदर-सत्कार करने (देव-पूजा) और बिखरे तन्तुओं को जोड़ने एवं विश्रृंखलित तत्वों को एक में अनुस्यूत-सुसम्बद्ध करने है (संगति करण) का समावेश अवश्य हो। यह भी नहीं विस्मृत करना चाहिए कि आहार जीवन के लिए है, जीवन आहार के लिए नहीं, इसलिए भोजन के लिए ही न जियो, जीवित रहने के लिए भोजन करो।

(४) मा गृधः कस्य स्विद् धनम्

किसी के धन पर, किसी के वैभव पर अपनी लोलुपता पूर्ण दृष्टि मत डालो। तुम्हारे पास किसी वस्तु की कमी नहीं है। औरों के भाग पर दीदे अटकाने से, दूसरों के धन पर गृध्र -दृष्टि रखने से तुम्हारे आत्म-बल का पतन होगा, नैतिकता के विलोप के साथ तुम्हारी बुद्धि का भी विनाश हो जाएगा और तुम न केवल मानवता की कोटि से ही अध: पतित होगे वरन् पशु-कोटि में परिगणित किये जाने पर श्रृंग-पुच्छ-रहित पशु-कोटि में समझे जाओगे। तुम्हारे जीवन के गुण-हरिकों का हरण हो जाएगा और अजब-सा रीतापन उभर कर तुम्हारे हाथों की क्षमता व्यर्थ कर देगा।

कितनी बुरी बात है कि भंयकर धूप में सारे दिन श्रम-साधना-लीन बेचारे श्रमिक का वास्तविक भाग न प्रदान करके कुछ अपर्याप्त पैसे दे दिये जाते हैं। अथक परिश्रम के साथ अध्यापन करने वाले, शत्-प्रतिशत परीक्षा-परिणाम प्रर्दशित करने वाले योग्य अध्यापक के हस्ताक्षर करवाकर, अंकित वेतनस्तर के स्थान पर केवल आधा या एक तिहाई वेतन दिया जाता है। यह धन छीनने के डकैती-राहजनी जैसे कुकृत्यों से भी अधिक भंयकर पाप है, सामाजिक अपराध है। इसे ही आजकल की भाषा में शोषण कहा जाता है। ये जो मुठ्ठी भर धनी पूंजीपति दिखायी पड़ रहे हैं जिन्होनें राष्ट्र के कोटि-कोटि जनों का भाग अपनी तिजोरी में बन्द कर रक्खा है, वास्तव में सामाजिक अपराधी हैं और जो शासन इन्हें अनुशासित नियंत्रित दंडित करके सही मार्ग पर नहीं लाता, वह घोर अपराधी है, फिर उस शासन को तो और भी बुरा समझना चाहिए जो हर क्षणं पूंजीपतियों के ईशारों पर नाचने के लिए विवश हो। इस दुष्प्रवृत्ति से राष्ट्रीयपतन का चित्र उभरे बिना नहीं रह सकता।

(५) इसी सूत्र का द्वितीय अंश है- यह धन किसका है; अर्थात् किसी का भी नहीं है। विश्व

में न जाने कितने बर्बर लुटेरे हुए हैं, जिन्होंने तुच्छ धन लिप्सा में मध्यकालीन वातावरण को रक्त-पात से कलंकित कर दिया, शिल्प एवं कला के नमूने ध्वस्त कर डालें, देशों की स्वायत्तता खतरे में डाल दी पर मरते समय वे एक पैसा भी अपने साथ नहीं ले जा सके। आज भी बैकों में करोड़ों की धनराशि, नगरों में अनेक महले-दुमहले और घर में परिवारिक जन यहीं रह जाते हैं। मृत्यु का समय आने पर कोई भी साथ नहीं जाता। इसीलिए भगवती श्रुति का स्पष्ट उपदेश है कि धन किसी का नहीं है, सिर्फ प्रजापति का है। अर्थात् व्यक्तियों को समझ लेना चाहिए कि धन व्यक्तिगत नहीं है, सामूहिक समाज, विश्व और राष्ट्र के लिए है। यह जितना ही चलता रहता है, उतनी ही विश्व की प्रगति होती है। यह जितना ही ठहरा रहता है उतना ही राष्ट्र या विश्व की प्रगति में ठहराव आ जाता है।

इस धन को साधन समझना चाहिए, साध्य नहीं। इससे भूख शांत करना, तन ढकना, बसेरे के लिए कुटीर बनाना ठीक है परन्तु मानव की विवेकशीलता का तकाजा है कि वह इस धन को व्यक्तिगत तिजोरी में बन्द न करे, मुनाफाखोरी पर न्यौच्छावर न करे, काला बाजारी में न खपाये; दान देव-पूजा, संगतिकरण पर अर्पित करे, सार्वजनिक विद्यालयों, संस्थानों पर न्यौच्छावर करे।

(६) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा

तरह-तरह के उपादेय करते हुए ही कम से कम सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करो! यह सूत्र मानव-प्रगति और लोक-अभ्युदय का सहज संकेतक है। जिस देश में बेकारी पनपती है, बेरोजगारी होती है, निठल्लूपन या अकर्मण्यता को सम्मान का प्रतीक समझा जाता है, अपना काम खुद करने में अपमान का अनुभव होता है, औरों से मुफ्त या बेगार में काम लेना बुद्धिमानी एवं चातुर्य का परिचायक मान जाता है, कर्म-निरत दीन-हीनजनों की या तोखिल्ली उड़ायी जाती है या खुला तिरस्कार किया जाता है, वह देश पनप नहीं सकता, प्रगति नही कर सकता। गली-गली कूचे-कूचे में श्रम का निरादर करने वाला समाज या देश देर-सवेर या तो औरों के सामने हाथ फैलाता है या ऋण और उधार के खाते में वृद्धि करता है। ऋण या उधार खाते की अनियंत्रित वृद्धि से वह प्रत्यक्ष या परोक्ष पराधीनता के निर्मम-निष्ठुर पाशों की ओर स्वयमेव बढ़ता जाता है।

जीवन की अंतिम साँस तक कर्म-निरत रहना ही वास्तविक मानव की निशानी है, परन्तु, कर्म नियोजित होना चाहिए, अनियोजित नहीं, स्पृहा-परिहार के लिए अपेक्षित है कि कर्मों में प्रवृत्ति होने की अवस्था में फल के अधिकार से दूर या फलाशा के आल-जाल से अलग

रहा जाये। इसीलिए भारतीय जीवन-व्यवस्था में चार पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का नियोजन किया गया है जिसे आधुनिक भाषा में संक्षेप के साथ यों समझा जा सकता है कि दायित्व (धर्म) का आधार लेकर, साधन-सुविधा (अर्थ) का सम्बल लेते हुए कामनाओं, इच्छाओं और आवश्यकताओं (काम) की पूर्ति करके प्रश्नों समस्याओं या जीवन-मरण की दुश्चिन्ताओं से मुक्ति या छुटकारा (मोक्ष) उपलब्ध करें। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही भारतीय सुधी ऋषियों ने सम्पूर्ण मानव-जीवन का औसत समय सौ वर्ष मान कर उसे चार आश्रमों में विभक्त किया जिनका विवरण आधुनिक शब्दावली में यों दिया जा सकता है कि शैशव के पालने से लेकर जीवन की परिपक्व अवस्था अर्थात् पच्चीस वर्ष तक ज्ञान-विज्ञान के सभी पक्ष जाने समझें जानें (ब्रह्मचर्य); पचास वर्ष की अवस्था तक घर बसाकर हर सुख-सुविधा का संयमित अनुशासित भोग-उपभोग किया जाये और समाज के उपकारी वर्गों का परिपालन किया जाये (गृहस्थ); पचहत्तर वर्ष की अवस्था तक भावी पीढ़ी को कर्म-रत होने में खुली छूट देते हुए, अपना परामर्श-धन वितरित करके उचित दिशा संकेत किया जाये (वानप्रस्थ) और शेष अंतिम जीवन तक अपने प्राप्त पिछले अनुभव को सार्वजनीन बनाने के लिए स्वयं को पूरे समाज के प्रति समर्पित कर दिया जाये (संन्यास)। ये पच्चीस-पच्चीस साल की कालावधियाँ भारतीय संस्कृति के असंख्य महनीय युगों का वितान तानती रहीं और आज भी उपादेय बन सकती हैं, परन्तु, हम अकर्मण्यता छोड़कर उठ नहीं रहें हैं, आश्वासन, प्रलोभनों की मृग-तृष्णा में भटक रहे हैं। फिर भला उनसे हमें लाभ कैसे होगा? यही नहीं कर्म-कोटि के आधार पर सारा समाज चार वर्णों में विभक्त किया गया हमारे भारतीय परिसर में जो पच्चीस साल तक ब्रह्मचर्य आश्रम में ज्ञान-विज्ञान अर्जित करके केवल बुद्धिपरक कर्मों पठन-पाठन, अध्ययन-अध्यापन, यज्ञ-योग का वरण कर सके वे ब्राह्मण, जो रक्षा-सुरक्षा के घटक बनना पंसद कर सके, वे क्षत्रिय और जो कृषि-व्यापार, उद्योग-धंधे के विकास को ही अपना पाये वे वैश्य कहलाये। परन्तु, कुछ इन तीनों दायित्वों में से किसी को भी अंगीकार न कर सके और दिल व दिमाग से कम प्रतिभावान् प्रतीत हुए, उन्हें शुद्र कहा गया। यह वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधृत है, कोरे जन्म पर नहीं। हम देखें-समझें ! आज तो इसकी रीढ़ जाति-पाति ने तोड़ दी है।

इसलिए अब हमें संभालनी है पुरुषार्थ-चतुष्टय, आश्रम-चतुष्टय और वर्ण चतुष्टय करपूर्ण व्यावहारिक आधारशिला जिस पर कर्म की विशाल अट्टालिका बन-सँवर सकती है। त्रिभुवन-विभव

के अधिष्ठाता आदि पुरुष के वंशज होकर, तुच्छ स्वार्थ कलुष पूरित इन ओछी सम्पत्तियों के दास बनने से हमारा यश धूलि-धूसरित हो जायेगा। हम भोग-लिप्सा के लिए ही जीवित रहें वरन् कर्म करने के लिए ही, अनुष्ठान संपन्न करने के लिए ही सदा जीवित रहने की सुदृढ़ इच्छा कर लें। क्योंकि यदि भोग का ही कोरा आग्रह रहेगा तो सौ वर्ष की औसत आयु नहीं उपलब्ध हो सकेगी। क्या हम भूल गये तीतर के माध्यम से दिया गया वह चरक उपदेश जो छोटाहोने पर भी उपादेय है- प्रस्तुत प्रसंग के सर्वथा अनुकूल है। एक बार तीतर बोल रहा था। किसी ने उसकी बोली का तात्पर्य जानने की इच्छा आचार्य चरक सदृश आयुर्वेदाचार्य के समाने व्यक्त की। उन्होंने कहा कि यह तीतर बतला रहा है- 'हित भुक्, ऋत्, भुक्, मित भुक्!' अर्थात् अच्छा हितकारी सुस्वादु आहार ग्रहण करो। ऋतु वातावरण परिस्थिति केअनुकूल खाद्य पदार्थों का सेवन करो! और जितनी भूख की अनुभूति हो, उससे कुछ ग्रास कम ही ग्रहण करो! इन्हीं तीनों लघु वाक्यों में समाज की औसत आयु सौ वर्ष होने की अमोघ औषधि सन्निहित है। इसका प्रत्येक स्थान, क्षेत्र और अवसर पर व्यावहारिक उपयोग करके लाभान्वित हुआ जा सकता है।

गुप्तकालीन समाजिक जीवन
(एक विवेचनात्मक अध्ययन)

डॉ० राकेश शर्मा
विभागाध्यक्ष, प्रा०भा० इतिहास
संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग
गु०का० विश्वविद्यालय, हरिद्वार

मौर्य-साम्राज्य के पतन के उपरान्त भारत में जो राजनीतिक विघटन और विश्रृंखलता की प्रक्रिया आरम्भ हुई थी वह गुप्तो के अभ्युदय तक पूर्ववत् ही दिखाई पड़ती है। ''मौर्यो के पश्चात महान गुप्तों का युग निसन्देह भूतीय राष्ट्र के इतिहास में नवजागरण, नवनिर्माण और नवोत्कर्ष्ज का द्वितीय महान सर्जनात्मक अर्ध्वकान्ति का काल था।''। गुप्तो अभ्युदय मौर्य-काल के लगभग चार सौ वर्ष पश्चात हुआ। इस बीच दुर्बल शासकों एवं विदेशी आक्रमणों और भारत के कुछ भू-भाग विदेशी राज्य स्थापित हो जाने के कारण, भारतीय समाज में कुंढा बढ़ी जिसके फलस्वरूप सामाजिक जीवन कुठिंत हो गया। नाग वंश और वाकाटक वंश ने विदेशी राज्यों का उन्नमूलन करके वैदिक धर्म और संस्कृति के विकास का जो प्रयत्न किया था उसे गुप्त वंश ने नवीन उचाईयों तक पहुचाया। ''गुप्त सम्राटों के विशाल साम्राज्य, उनके श्रेष्ठ सुव्यवस्थित शासन देश में शान्ति और समृद्धि के वातावरण, उनकी उदारता और सहिष्णुता की नीति, उनके विद्यानुराग, ललित कलाओं और साहित्य को उनका संरक्षण आदि ने सांस्कृतिक पुनरूद्वार और अभिसृष्टि के लिए, समाज की बहुमुखी प्रतिभा की अभिव्यक्ति के लिए नवीन युग का प्रारम्भ किया। इस युग में सामाजिक जीवन में एक नवीन स्फूर्ति का जन्म हुआ एक नया प्रकाश मिला और इस प्रकाश में समाज अपना बहुमुखी विकास करने मे सफल ले सका। भारतीय समाज ने अपना जितना विकास गुप्त काल में किया, उतना विकास अन्य काल में शापद ही हुआ है।2

गुप्तकालीन साहित्य, अभिलेखों और मुद्राओं द्वारा तत्कालीन समाज पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। गुप्तकालीन समाज के सन्दर्भ में चीनी यात्री फाहयान ने भी विस्तृत रुप से लिखा है। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के समय में यह भारत आया था उसने तत्कालीन समाज के बारे में लिखा है। ''लोगों का व्यावहार बड़ा सौहार्दपूर्ण था। वे प्रेममय जीवन व्ययतीत करते थे। केवल चाण्डालों को छोड़कर कोई मांस, मंदिरा आदि का सेवन नहीं करता था। लहसुन प्याज, आदि का प्रयोग कम होता था। मुर्गीपालन तथा सुअर-पालन घृणित कार्य समझा जाता था। .... समाज में नैतिकता की प्रबल भावना थी। धनी व्यक्ति मुक्तहस्त निर्धनों की साहयता करते थे तथा मन्दिर, धर्मशाला में तथा प्याऊ इत्यादि बनवाते थे।''

गुप्तकालीन समाज धन-धान्य से सम्पन्न था। आम-जन स्वतन्त्र था। गुप्त नरेशों का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की स्थापना करने में था। इस कारण प्रजाहित सर्वेपरि था। उनके द्वारा विश्रामालय, औषधालय अनाथालय जैसे जनता को सुख पहुँचाने वाले साधनों का निर्माण अनेक स्थानों पर किया गया। आम जनों में चरित्रबल, नैतिकता और सदाचारिता थी। गुप्तकाल से पूर्व भी भारतीय समाज अनेक उन्नत पराकाष्ठओं को प्राप्त कर चुका था। गुप्तकाल में इस सामाजिक जीवन के कई बहुमुखी विकास हुये। जिनके फलस्वरूप गुप्तकालीन समाज में कुछ नवीनताये दृष्टिगोचर होती है। इन नीवनतओं को गुप्तकालीन समाज के विभिन्न आयामों को निम्नतः समझा जा सकता है।

वर्णव्यवस्था एवं जाति प्रथाः- गुप्तकालीन समाज परम्परागत चार वर्णो में विभाजित था ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शुद्र। मनुस्मृति में ब्राह्ममण कर्त्तव्य बताये गये, अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ कराना, दान देना तथा दान लेना यथा-

''अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दान प्रतिग्रहश्चैय षट् कर्माण्यग्रजन्मनाः॥३

क्षत्रिय का कर्त्तव्य शस्त्र के द्वारा राष्ट्र की रक्षा की करना था। यथा

''क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानां परिपालन्''४

वैश्य का व्यासाय वाणिज्य था। यथा

''वाणिज्यं कारयेत् वैश्यम्''५

शुद्रों का कर्म सेवा करना था यथा

''दास्यं शुद्रं द्विजन्मनाम्''६

गुप्तकाल में समाज की आधार शिला वर्ण व्यवस्था थी और जाति प्रथा भी प्रचलित थी। ''लुप्त वैदिक परम्परा पुनः जाग्रत हो उठी आई समाज में वर्णाश्रम धर्म का महत्व बढ़ने लगा था। सामाजिक सगंठन में चारों वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैय और भूद्र) तथा चार आश्रमों ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास की महत्ता पुनः प्रतिष्ठित हो गयी थी। विभिन्न वर्ण के लोगों का आदर-सत्कार उनके कर्त्तव्य पालन के आधार पर किया जाता था। ब्राह्ममण वर्ण के लोग अध्ययन, अध्यापन और यजन याजन करने में, क्षत्रिय क्षात्र धर्म और प्रजा रक्षण में, वैश्य कृषि और वाणिज्य-व्यावसाय में तथा शुद्र वर्ण के लोग समाज की सेवा में रत रहते थे। समाज में ब्राह्मणों को अन्य वर्णो की अपेक्षा अधिक आदर व श्रृद्धा से देखा जाता था।, क्योंकि वे प्रायः बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करते थे। ब्राह्मणों के समान क्षत्रिय वर्ण क लोग भी अपने कर्त्तव्यों के निष्ठा, योग्यता तत्परता और सर्तकता से सम्पन्न करते थे। वे प्रजापालन और प्रजारक्षण में विशेष ध्यान देते थे वैश्य भी व्यापार वाणिज्य, कृषि और पशुपालन के कार्य करके देश को समृद्ध बना

रहे थे। शुद्र भी अपनी शक्ति के अनुसार समाज सेवा के कार्य करते 44 शुद्रों के अतिरिक्त कतिपय जंगली, अर्द्धसभ्य जातियाँ भी थी जो अपने रहन सहन खानपान, व्यवसाय आदि के कारण हीनमानी जाती थी। ये समाज से बाहर रहती थी। इन्हे चाण्डला और श्वपच कहा जाता था। ये नगर और गांव के बाहर रहते थे तथा लोग इनका स्पर्श नहीं करते थे। इसमें स्पष्ट है समाज में अस्पृश्यता भी थी।7

गुप्तकाल में वर्णसंकरों की जातियाँ भी थी। स्मृतिग्रन्थकारों के अनुसार इन वर्णसंकरो की उत्पत्ति अन्तर्जातीय विवाहों तथा अनुचित यौन सम्बन्धों द्वारा हुई थी। गुप्तकाल में वर्ण परिवर्तन करने की अनुमति थी। इस समय अनेक ब्राह्मण तथा वैश्य सैनिक वृत्ति करते थे, तो अनेक क्षत्रिय कृषि व्यापार तथा व्यवसायों को अपनाये हुए थे। गुप्तकाल में लेखक का कार्य करने वालों को 'कायस्थ' कहां जाता था। दामोदरपुर के ताम्रपत्रों से विदित होता है कि प्रथम कायस्थ शासन में भाग लेता था तथा वह प्रान्तीय सभा का सदस्य होता था। डॉ0 ओड़ा का विचार है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जो लेखक का कार्य करते थे। कायस्थ कहलाये। 'मृच्छकटिक' में शुद्रक ने कायस्थों को 'भो श्रोष्ठि कायस्थों' कहा है तथा उनकी उपमा सर्चो से की है। यथा-

''नानावाश्ककक्ङ्क पक्षिरुचिरं कायस्थ सर्पास्पदम्।
नीतिक्षुण्णातटं च राजकरणं हिस्त्रेः समुद्रायते।।८

गुप्तकाल में उपजातियों का विकास होना प्रारम्भ हो गया था। ब्राह्मणों का भेद शाखा और गोत्र का उल्लेख करके किया जाता था। क्षत्रियों में उपजातियाँ नहीं थी। क्षत्रिय प्रायः एक वर्ण तथा वह सदैव सत्कर्मो में लगा रहता था। वैश्य वर्ण में अनेक उपजातियाँ थी। पेशों के कारण शुद्रों में अनेक उपजातियाँ बन गई थी।9

दास प्रथा :- गुप्तकाल में दास-प्रथा पर किसी भी विदेशी लेखक द्वारा उल्लेख नहीं किया गया है। नारद स्मृति में दास प्रथा का विवरण मिलता है। नारद स्मृति में दासों के प्रकार निम्नतः बताये है- प्राप्त किया हुआ दास, स्वामी में प्रदत्त दास, ऋण न चुना सकने के कारण बना दास, दांव पर हार जाने वाला दास, स्वयं दासत्व ग्रहण करने वाला, अपने को एक निर्धारित समय के लिए दास बनाने वाला, दासी के प्रेम पाश में पड़कर बनने वाला, और आत्मविक्रयी दास। उपर्युक्त दास अपना प्रतिनिधि देकर दासत्व से मुक्ति पा सकते थे। स्वामी के प्राणों की रक्षा करने पर दास न केवल दासता से मुक्त हो जाता था, वरन उस स्वामी के पुत्र के हिस्से के बराबर धन भी प्राप्त होता था। स्वामी द्वारा दासी को पुत्र उत्पन होने पर बहदासत्व से मुक्ति पा जाती थी।

परन्तु इस बात के अनेकानेक प्रमाण मिले है कि गुप्तकाल में दास प्रथा कमजोर हो गई थी दास मुक्ति के अनुष्ठान का विधान सर्वप्रथम नारद ने किया है। दासों में सगंठन होने से भी दास व्यवस्था कमजोर हुई होगी। भारत में दासों के साथ दुर्व्यवहान नहीं किया जाता था। अतः

विदेशी यात्री इसके अस्तित्व का पता भी नहीं लगा सके। इस काल में अनेक बाते दिखाई पड़ती है, जिनके दास प्रथा के थिथिल होने का प्रमाण मिलता है। रामशरण शर्मा के अनुसार ''ऐसा लगता है कि वर्ण व्यवस्था ही कमजोर पड़ गई थी और इस कारण दास प्रथा के कमजोरी आई। वर्ण प्रथा का नियम था कि शुद्ध को दास बनाना चाहिये, पर गुप्त कालीन पुराणों के वर्णन से पता चलता है कि वैश्य और शुद्ध अपने वर्ण-धर्म का पालन नहीं करते थे- अर्थात् किसान के रूप में अन्न पैदा कर वैश्य कर नहीं देते थे और शुद्ध द्विजो की सेवा करने को तैयार नहीं थे। ध ोर वर्ण सकंट की स्थिति पैदा हो गई थी।'' बटवारे और धार्मिक भूमिदानों के फलस्वरूप भूमि छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित हो गई थी, अतः छोटे कृषि-क्षेत्रों में स्थायी रुप से अधिक शुद्ध, दास और मजदूर रखने की आवश्यकता नहीं थी। इससे अधिकांश दासों को छांट दिया गया। यह दास प्रथ का कमजोर होने का मुख्य कारण था।

पारिवारिक जीवनः- वैदिक और मौर्यकाल की भांति गुप्तकाल में भी संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी। इस प्रकार समाज के सगंठन का आधार पितृ-प्रधान परिवार था। इस काल के स्मृतिकारों ने भी किसी प्रकार से परिवार की सम्पत्ति आदि बटवारे को सर्वथा अनुपयुक्त एवं धर्म विरोधी कहा है। इसलिए गुप्त काल के परिवार में माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री, पौत्र-पौत्री आदि सभी छोटे बड़े कई पीढ़ी के सदस्य साथ मिलकर रहते थे। ''गुप्तकाल के अभिलेखों में संयुक्त परिवार प्रथा का उल्लेख है। परिवार का मुखिया पिता या वयावृद्ध व्यक्ति होता था वह परिवार के सामाजिक तथा धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करता और परिवार के हित में दान पुण्य भी करता था।।1

पारिवारिक सम्पत्ति का स्वामित्व पिता को ही प्राप्त था। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि पुत्रों और भाइयों को इस अधिकार से वंचित रखा जाता हो कुछ एक भूमिदान पत्रों से इस दृष्टिकोण की पुष्टि होती है कि परिवार के पुरुष उत्तराधिकारी को संयुक्त सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त था। भविष्य में यही प्रथा मिताक्षरा प्रणाली के नाम से प्रचलित हुई। स्मृतिकारो ने ऐसे ब्रह्मण को 'श्राद्ध' से वंचित किया है जिसके अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध सम्पति का विभाजन कराया हो। इससे यह तो स्पष्ट हो जाता है कि सम्पत्ति में पुत्र का अधिकार जन्म जात था।।2

गुप्तकाल में उत्तराधिकार के सम्बन्ध में भी नियमों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है वैसे तो पूर्व क स्थापित नियम भी बहुत कुछ मात्रा में चलते रहे उदाहरण के लिए पूर्व के स्मृतिकारो द्वारा वर्णित यह सिद्धान्त कि ज्येष्ट पुत्र को अधिक भाग मिलना चाहिए, अब यदाकदा ही पालन किया जाता था।3

इस प्रकार सामन्यतः सभी पुत्रों को सम्पत्ति में से समान भाग मिलता था। विधवा को अपने पति के हिस्से का उत्तराधिकर मिलना चाहिए अथवा नहीं इस प्रश्न पर इस काल के

स्मृतिकारो में सतैभ्य नहीं है। याज्ञवल्य और बृहस्पति कहते है कि पति के संयुक्त परिवार के सदस्य होने पर उसकी विधवा को सम्पत्ति में से केवल निर्वाह करने का अधिकार मिलना चाहिए। ओर पति परिवार से अलग हो गया हो तो उसे अपने पति की सम्पत्ति का हिस्सा अपने जीवनकाल में भोगने के लिए मिलना चाहिए। इसके विपरीत नारद ने इसके विरोधी है। ''बहुत कुछ सम्भावना इस बात की है कि सुधारवादी प्रथा अभी प्रचलित नहीं हुई थी जैसा कि 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' के छटे अंक से प्रतीत होता है। जिसमें कि वर्णन आया है कि विधवा स्त्री के यदि कोई पुत्र नहीं है तब ऐसी अवस्था में उसकी सम्पत्ति निश्चय ही राज्य सरकार को दे दी जाय। इसके अतिरिक्त मिताक्षरा नियम के अनुरूप ही इस युग में यह प्रथा भी थी कि भाईयों के होते हुए भी बहिनों को पिता की सम्पत्ति में से कोई भाग नहीं मिल सकता था। धर्मशास्त्रों में अवश्य ही यक विचार प्रस्तुत किया गया है कि पिता को पुत्री के विवाह के समय उदारता से धन व्यय करना चाहिए जो कम से कम पुत्र के हिस्से का चतुर्थ भाग अवश्य होना चाहिए।।4

विवाह- मनु ने पूर्व में यह मत प्रतियादित किया था कि योग्य वर के अभाव में पुत्री किसी भी अवस्था तक अविवाहित रहा सकती थी। परन्तु गुप्त कालीन स्मृतिकारों नारद एवं याज्ञवलक्य ने यह कहा कि रजस्वला होने के पूर्व पुत्री का विवाह न करने पर पिता पाप का भागी समझा जात 215 प्रतिशत कालीदास के ग्रन्थों के अनुसार इस काल में चार प्रकार के विवाह समाज में प्राय: प्रचलित थे। प्रथम प्रजापत्य विवाह जिसके पिता पुत्री को वर को प्रदान करते समय बहुत सा धन तथा आभूषण दहेज के रुप में देता है द्वितीय गन्धर्व विवाह जिसमें स्त्री और पुरुष स्वयं ही विवाह सम्बन्ध बना लेते थे।।6 तृतीय आसुर विवाह जिसमें दुहिता-शुल्क के बदले में पिता विवाह सम्बन्ध स्वीकार करता था।।7 चतुर्थ स्वयवर-विवाह जिसमें अनेक वरों में से कन्या स्वयं एक वर चुनती थी।।8 परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि समाज में प्रजापत्य विवाह को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त थी। इसी प्रकार समाज में एक पत्नी प्रथा सर्वमान्य थी परन्तु राजवंशों एवं धन सम्पन्न लोगों के अनेक पत्नियाँ होती थी। चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमार गुप्त प्रथम के अनेक पत्नियों के प्रमाण मिलते है। परन्तु धार्मिक अनुष्ठानों के अवसर पर महारानी के भाग लेने के साक्ष्य मिलते है।

गुप्तकालीन समाज के समाजीय विवाह की प्रथा प्रचलित थी परन्तु साथ ही अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह के उदाहरण भी प्राप्त होते है। अनुलोम विवाह में वर कन्या से एक वर्ण ऊँचा होता था। एक गुप्तकालीन अभिलेख में ब्राह्मचर्य और आत्मसंयम के जीवन को आवश्यक्र कहा है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने ज्येष्ठ भ्राता रामगुप्त की विधवा पत्नी ध्रुव देवी से विबाह किया था। अनमेल विवाहों का भी प्रचलन था। स्वयं कुमार गुप्त ने अपनी वृद्धावस्था में नवयुबती से विवाह किया था। अन्तर्जातीय विवाह होते थे। क्षत्रिय गुप्तों का विवाह सम्बन्ध वाकाटक ब्राह्मचण वंश में हुआ था।।9 इसी प्रकार जो विरोधियों ने भारतीय धर्म स्वीकार कर भारतीय बन गये थे उनका वैवास्कि सम्बन्ध भारतीयों से बनना प्रारम्भ हो गया। ऐसे विवाहों को भी सामाजिक मान्यता मिली। परन्तु स्मृतिकारों ने ब्राह्ममण या क्षत्रिय द्वारा शुद्र कन्या के साथ विवाह की अत्यधिक निन्दा

की है परन्तु समाज में ऐसे विवाह भी सम्पन्न होते थे। ऐसे विवाहों द्वारा उत्पन्न पुत्र को स्मृतिकारों ने सम्पत्ति में भागीदार स्वीकार किया है। याज्ञवल्क्य ने कहा कि शुद्र पत्नी से उत्पन्न पुत्र ब्राह्मण पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकार बताया।

खान पान - चीनी यात्री फाहयान के अनुसार गुप्तकालीन समाज शकाहारी था उसने लिखा है ''सारे देश में कोई अधिवासी न हिंसा करता है, न मघ पीता है और न लहसुन प्याज खाता है। केवल चाण्डाल ही ऐसा करते है। जनपद में लोग न सुअर और मुर्गी पालते है और न जीवन पशु ही बेचते है। न ही मांस की दुकान है और न कही मधपान गृह।20 ऐसा प्रतीत होता है कि फाहयान का उपर्युक्त विवरण बोद्ध धर्मवलम्बियों का प्रतिनिधित्व करता है। क्योंकि इस विवरण कालीदास के नाटको में तो स्त्री पुरुषों द्वारा सामुहिक रूप से मदिरा पान का तथा मांस परोसे जाने का उल्लेख मिलता है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' में माढण्य नामक ब्राह्मण द्वारा सुअर का भुना हुआ मांस खाने का उल्लेख है। कालीदास ने मध21, मदिरा22, आसव23, वारुणी24, कादम्बरी और शिधु26 प्रकार की मदिराओं का उल्लेख किया है। इस प्रकार धनी व्यक्ति पदाधिकारी और पुलिस अधिकारी भी मदिरा का सेवन करते थे। सैनिक भी विजय के उपलक्ष्य में मदिरापान करते है।26

इस प्रकार ऐसा होता है कि गुप्तकाल में खानपान व्यक्तिगत रुचि के अनुरुप था सामाजिक रुप से खान पान के प्रति कोई बाध्यता नहीं थी मांसाहारी और शाकाहारी दोनों प्रकार के लोग थे। 'मृच्छकटिक' में चालक, गुड़, घृत, दृधि, मोदक और यूप आदि खाद्य पदार्थो का इस प्रकार मिलता है।

''गृडोदनं घृतं दधि तण्डुला'' तथा बहुविधाहारविकारं उपसाधपति सूपकारे: बद्ध्यन्ते मोदका:। पच्चयन्ते चापूपका: दाल चावल, रोटी बाजरा, दूध, घी, मिठाई ओर शक्कर सामान्य भोजन के अंग थे सामान्य रुप स्त्रियों तथा ब्राह्मण शाकाहारी थे, भोजन तथ खानपान में शुद्धता तथा शुचिता का ध्यान रखा जाता था। भोजन दिन में दो बार किया जाता था। खाद्य सामग्री सस्ती थी। विभिन्न आकड़ों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति के भोजन के लिए ढाई रुपये प्रतिमाह पर्याप्त थे।27

वस्त्राभूषण- प्राचीन काल से भारत में बिना सिला उत्तरीय एवं धोती धारण करते थे। परन्तु शकों कुषाणों के प्रभाव के पश्चात् कोट और पजामा भी पहना जाने लगा। शुभ या विशेष अवसरों पर पगड़ी बाधने की प्रथा थी। ''राजवर्ग सुन्दर तथा बहुमूल्य वस्त्रों का अत्यन्त प्रेमी था। भारतीय नरेश पगड़ी पहनते थे, जिन पर विभिन्न प्रकार के बेलाबूटं बने रहते थे तथा पत्तियों का काम किया जाता था। कामदार साफों में बहुधा झालरे लटकाई जाती थी और उन्हे आभूषणों से युक्त किया जाता था। गुप्त गुद्राओं से ज्ञान होता है कि गुप्त नरेश टोपी भी पहनते थे अपनी मुद्राओं पर समुद्रगुप्त कोट तथा चूड़ीदार पाजामा एवं जूता पहने हुऐ अंकित अलंकृत हुआ करती थी। ये लोग बहुमूल्य क्षोम तथा कौशैय वस्त्र धारण करते थे।28 चन्द्रगुप्त प्रथम के मुद्रा में वह एक चुस्त कीट

और पायजामा पहने हुए है। शीर्ष पर भी एक वस्त्र धारण किये हुऐ है। कानों में कुण्डल बाजुओं में बाजुबन्द धारण किये है उसके समीप ही कुमार देवी ने एक ढीला वस्त्र कुण्डल, हार और बाजुबन्द धारण क्रिये है सिर पर उसने एक चुस्त टोपी ग्रहण कर रखी है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मुद्राओं वह धोती पहिने दिखाई पड़ता है उसके सिंहनिहन्ता प्रकार के सिक्कों वह कटि के चारो ओर कटिबन्ध, भुजाओं में भुजबन्द और कानों में कुण्डल धारण किये है। कुमारगुप्त प्रथम की गुद्राओं से ऐसा पता चलता है कि घुटकों के उपर छोटे और ढ़ाले वस्त्र धारण किये जाते थे। ऐसा भी हो सकता है कि यह वस्त्र आरवेट के समय पहने जाने वाली पौशाक हो।

इस प्रकार साधारण लोग प्राय: सूती वस्त्र तथा धनी एवं सम्पन्न लोग रेशमी, ऊनी तथा बहुमूल्य वस्त्र धारण करते थे। अधोवस्त्र (धोती) तथा उत्तरीय (शाल) का प्रयोग पुरुषों द्वारा तथा साड़ी और पेटीकोट का प्रयोग स्त्रियों द्वारा किया जाता था। पाजामें और कोट का प्रयोग सीमित था पुरुष पगड़ी भी बाधते थे। सिथियन महिलाऐं फ्रांक, जैकेट, पायजामे तथा ब्लाउज पहनती थी। ''अजनता की चित्रकारी में स्त्रियों को विविध प्रकार की चोलियाँ पहने हुए चित्रित किया गया है। प्राय: सूती वस्त्रों का ही प्रयोग किया जाता था। परन्तु रेशमी ऊनी तथा विविध प्रकार के कामदार जड़ाऊ वस्त्रों का भी प्रचुर प्रयोग किया जाता था। वस्त्रों की रंगाई, छपाई तथा कढ़ाई की कला का विकास हो चुका था। रेशम का आयात चीन से तथा उनी वस्त्रों का आयात पश्चिमोत्तर देशों से किया जाता था। फहियान के अनुसार भारतीय ऊसी तथा इतना चित्ताकर्षक था कि विदेशी इसे बड़े चाव तथा गर्व से पहनते थे।29

गुप्तकालीन समाज में नारी और पुरुष समान रुप से आभूषण प्रिय थे। अजन्ता के चित्रों से ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ सिर की मांग के बीच में टीका पहनती थी। धार्मिक अनुष्ठानों में आभूषण पहनने का रिवाज था। कालीदास ने रघुवंश में वर्णन किया है कि स्वयंवर में आने वाले राजा केयूर और अंगुलीयक पहने हुऐ थे। ''गुप्तयुग की भास्कर कला, चित्रकला और साहित्य ग्रन्थ स्त्रियों के विविध प्रकार के आभूषणों की सुन्दरता और विलक्षणता को पूर्ण परिचय देते है। गुप्त युग के आभूषण में सुन्दरतापूर्वक बनायी गयी आकर्षक कानों की बालियाँ, विविध प्रकार की मोतियों की मालाएँ व हार, लगभग एक दर्जन प्रकार के कन्दोरे, वक्षस्थल और जघांओं के जालीदार मोतियों के आभूषण और रत्नजडित चूड़ियाँ आगूठियाँ आदि मुख्य थे, पर नथ या नाक के काटों का उपयोग नहीं होता था। 30

गुप्तकाल में श्रृगांर प्रियता भी काफी थी ''अलंकार प्रेमी नागरिक सुगंधित द्रव्यों का प्रयोग करते थे। उनके पास सुगन्धित द्रव्यों की एक पेटी होती थी, जिसमें वे सुरभियुक्त जल, तेल पूर्ण तथा अनुलेप आदि रखते थे। सौरयुक्त पुष्पों की माला धारण की जाती थी। मुखवास को शुद्ध करने के लिए नागरिक ताम्बूले का सेवन करते थे। स्त्रियाँ अपने नेत्र तथा अंगरंग चढ़ाती थी। नाटयशास्त्र में इसका उल्लेख मिलता है। (नेत्र योरजंन कार्यमधास्य च)।31

गुप्तकाल में केश विन्यास के अनेक उदाहरण अजन्ता की चित्रकारी में देखे जा सकते है जो कि अत्यन्त आकर्षक वह मनोहरी हैं। केशों के जूड़े और वेणी बन्ध में व्यवस्थित कर उसमें विभिन्न पुष्पों द्वारा सजाया भी जाता था। स्त्री एवं पुरुषों सभी को सुगन्धित पुष्प-मालाऐ धारण करने का शोध था। स्त्रियाँ आखों और अधरो पर अगंराग को प्रयोग में लाती थी, नाखून रंग जाते थे तथा हाथों और पैरों में मेंहदी लगाना भी प्रचलन में था। स्त्रियाँ अपने बालों को लम्बा दिखाई देने के लिए एवं कलात्मक रुप से जाने के लिए नकली बालों का प्रयोग भी करती थी।

मनोरजंन के साधन - उधान यात्रा, पशुपक्षी पालन, द्यूत आदि। रघुवंश में धूत क्रीड़ा के उदाहरण मिलाते है 'मृच्छकटिक' में तो धूत क्रीड़ा का विशद वर्णन मिलता है। यथा

''धूतं ही नाम पुरुषस्य असिहासनं राज्यम्।।३३

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त द्वारा आखेट करने का वर्णन प्राप्त

31 उदयनारायण राय-पूर्वोम्त-पृ0 342

32 शाकुन्तलम् अंक 2

33 मृच्छकरिक पृ0 2

प्राप्त होता है। समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त की मुद्राओं में सम्राट का आखेट प्रेम स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार वात्सायन ने कामसूत्र में नागरिकों की उद्यानशाला का उल्लेख किया ह ।

धनी व्यक्ति अपने घरों में एक पक्षीशाला बनवाते थे। मृच्छकाटिक में उल्लेख है कि उज्जयिनी की वैश्य बसन्तसेनां ने अपनी पक्षीशाला में शुक, सारिका कोयल, काक, तीतर, चातक, मोर, हंस एवं कबूतर आदि पक्षी पाल रखे थे। यथा-

''पठति शुकः कुरकायते मदनसारिका, योध्यन्ते प्रेप्यन्ते पञ्जरकपोता''३४

अनेक नट, जादुगर गायक, भाट तथा नाटक दल व्यवसाय के रुप में लोगों का मनोरजंन करते थे।

सन्दर्भ

1. भगवती प्रसाद यांथरी — भारत का स्वर्ण युग पृ0 338
2. बी0एन लूनिया — प्राचीन भारतीय संस्कृति पृ0 512
3. मनुस्मृति — 10/75
4. विष्जुस्मृति — 5/3
5. मनुस्मृति — 8/410

6. मनुस्मृति	8/410
7. बी0एन0 लुनिया	पूर्वोक्त पृ0 513
8. मृच्छकाटिक	9/14
9. ईश्वरी प्रसाद	प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला संस्कृति, धर्म तथा दर्शन पृ0182
10. डी.एन. झा एवं श्री कृष्णमोहन श्रीमाली	प्राचीन भारत पृ0 311
11. बी.एन. लुनिया	पूर्वोक्त पृ0 514
12. भूपेश चन्द्र सक्सैना	गुप्तकालीन भारत
13. फ्लीट जे.एफ.	कोरप्स इन्सक्रिप्रिशंस इन्डिकेमरवाल्यूस तृतीय पृ0 199
14. भूपेश चन्द्र सक्सैना	पूर्वोक्त पृ0 281
15. रघुवंश	7/13
16. अभिज्ञान शाकुन्तलम	3/20
17. रघुवंश	11/38
18. रघुवंश	6/84
19. बी.एन. लुनिया	पूर्वोक्त पृ0 5105
20. गाइल्स	फाहयान, पृ0 53
21. ऋतुसंहार	5/100
22. ऋतुसंहार	6/10
23. ऋतुसंहार	4/110
24. रघुवंश	106/52
25. रघुवंश	4/42
26. कुमार सम्भव	4/12
27. ईश्वरी प्रसाद	पूर्वोक्त पृ0 183
28. उदयनारायण राय	गुप्त सम्राट और उनका काल पृ0 341
29. एम.पी. श्रीवास्तव	प्राचीन इतिहास एवं संस्कृति पृ0 256-57
30. बी.एन. लुनिया	पूर्वोक्त पृ. 517
31. उदयनारायण राय	पूर्वोक्त पृ0 342
32. अभिज्ञान शाकुन्तमलम्	अंक 2
33. मृच्छकटिक	पृ0 2
34. मृच्छकटिक	अंक 4

वैदिक साहित्य में उदात्त भावना

डॉ० सुमन चावला
विष्णु गार्डन कनखल, हरिद्वार

विश्व में प्राचीन काल से आज तक अनेक संस्कृतियों ने जन्म लिया है। जिनमें से कतिपय संस्कृतियाँ काल का ग्रास बन गयी कतिपय नये परिधान धारण कर कुछ परिवर्तित रूप में आ गयी हैं। यद्यपि समयानुसार सभी जातियों और संस्कृतियों के आचार विचारों में परिवर्तन होता रहता है किन्तु उसकी मूलभावना या केन्द्रीय विचार सदा अपरिवर्तनीय रहता है। भारतीय वैदिक संस्कृति में भी कुछ ऐसी मूल भावना विद्यमान है जो लाखों वर्षो से इसे जीवित रखे हुए है। इन्हीं मूलभूत भावना पर मैं अग्रिम पंक्तियों में विचार करना चाहती हूँ।

१) **अध्यात्म भावना** - वैदिक संस्कृति की मान्यता है कि इस असीम विश्व की उत्पत्ति ब्रह्मतत्व से हुई है, विश्व में तीन प्रमुख तत्व है- ब्रह्म, प्रकृति, जीवात्मा। यह दृश्यमान संसार पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाशादि पंचमहाभूतों से बना है। जिस प्रकार संसार के प्रत्येक पदार्थ का कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होता है उसी प्रकार इस पृथिवी आकाशादि का रचयिता परमात्मा है। वह परमात्मा या परब्रह्म नित्य, निर्लेप, नि:संग तथा निर्विकार है, पृथिवी आदि की उत्पत्ति होती है, अत: उसका नाश भी अवश्य होगा, जीवात्मा जन्म धारण करता है अत: उसे भी शरीर त्याग करना पड़ता है। श्रीमद्भगवत गीता का वचन है

"जातस्य हि ध्रुवोमृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्यच"

प्रत्येक जन्म लेने वाले प्राणी की मृत्यु तथा प्रत्येक मृत प्राणी का पुनर्जन्म होता है।

हमें एक दिन इस नश्वर का त्याग अवश्य करना पड़ेगा, अत: इन नश्वर धन सम्पत्ति भोग विलास में अधिक आसक्ति न रखकर त्याग की भावना रखना आवश्यक है।

२) **पुनर्जन्म की भावना** - वैदिक साहित्य, वेदान्त, उपनिषद्, गीता आदि ईश्वरीय ग्रन्थों में पुनर्जन्म की पुष्टि की गयी है। जीवात्मा अपनी वासना, कर्म और संस्कारों के कारण बारम्बार जन्म ग्रहण कर अपने कर्मो का भोग भोगता है।

"पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्ङस्य सदसद्योनि जन्मसु।।"

३) **सर्वभूतदया या प्राणिमात्र के प्रति समभाव** - यह सर्वभूतदया भी प्रथम मूल भावना का ही अंग है। सभी प्राणियों में परमपिता परमात्मा विद्यमान हैं। अत: उस परम सत्ता का सम्मान

सर्वभूतदया के रूप में आवश्यक है। परमसत्ता का प्राणिमात्र में भान होने पर बुद्धिमान पुरुष तुच्छ से तुच्छ जीव को भी हीन दृष्टि से नही देखता और न किसी को कष्ट पहुँचा सकता है, इसी भावना का अंग अहिंसा है।

वेद का उद्घोष है कि हम मनुष्य सहित सभी प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखें यथा-

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि
समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षुषा
सर्वाणि भूतानि समीक्षे,
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

अर्थात् समस्त प्राणी मुझे मित्र की भावना से देखें और मैं भी समस्त प्राणियों के साथ मित्रता की भावना से व्यवहार करूँ तथा हम सभी मैत्री भाव से परस्पर व्यवहार करें। सर्वभूतदया या प्राणिमात्र के प्रति समभाव वैदिक साहित्य की प्रमुख श्रेष्ठता है।

४) विश्वशान्ति एवं स्वस्ति भावना - वैदिक मंत्रों में विश्वशान्ति की व्यापक भावना विद्यमान है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक सूक्तों द्वारा विश्वशान्ति की कामना की गई है, यथा-

शं नो मित्रः शंवरुणः, शन्नो भवत्वर्यमा।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः, शन्नो विष्णुरुरुक्रमः॥
शंनो देवः सविता त्रायमाणः शन्नो भवन्तूषसो विभातीः।
शन्नः! पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः शन्नः क्षेत्रस्य पतिरस्तुशम्भुः॥

अर्थात् मित्रदेवता हमारे लिए मंगलकारी हो, वरुण देवता हमारे लिए कल्याणकारी हो, तथा इन्द्रदेव, बृहस्पति देव और विस्तृत गमनशील भगवान विष्णु हमारे लिए कल्याणकारी होवें। सबकी रक्षा करने वाला सूर्य और सूर्य तेज से उद्भासित उषाः काल हमारे लिए कल्याणकारी हो।

स्वस्ति भावना - वेदों में अनेक स्थलों पर स्वस्ति भावना परक स्तुतियाँ है जिनसे सर्वभूत कल्याण की कामना का हमें ज्ञान होता है। यथा-

ॐ आनो भद्रा क्रतवोयन्तु विश्वतोऽदब्धासोअपरीतासउद्भिदः।
देवा नो यथा सद्मिद्वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे।
स्वस्तिनः पथ्यासु धन्वसु स्वस्त्यप्सु वृजने स्वर्वति
स्वस्ति न पुत्रकृथेषु योनिषु स्वस्तिराये मरुतेदधातन॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः
स्वस्ति नस्ताक्ष्योऽरिष्टनेमिः
स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।

अर्थात् हमें सब ओर से भली भावनाएँ मिलें। उनमें धोखा न हो, उनमें बाधा न हो, उनमें उन्नति ही उन्नति हो, इससे प्रसन्न हो हमारी उन्नति करे वृद्धि करे, सदा हमारा साथ दे।

सुविस्तृत मार्गों पर हमें सुखप्राप्ति हो, भूमि के मरुभागों में हमें सुखलाभ हो। जलप्रधान प्रदेशों, खुले मैदानों तथा धनी बस्तियों में सुख प्राप्ति हो।

वृहद्श्रुत ज्ञान सम्पन्न इन्द्र और समस्त विद्यायुक्त पूषा हमारे लिए सुखकारी हो, गरुड़ अरिष्टनेमि और बृहस्पतिदेव हमारे लिए कल्याणप्रद होवें।

५) यमनियमादि का आचार में समन्वय-योगदर्शन में यमनियमादि योग के आठ अंगों का समन्वय किया है इनमें से सदाचार की दृष्टि से यम नियम का विशेष महत्त्व है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, परिग्रह ये पाँच यम है-

१) अहिंसा- मन, कर्म या वचन से किसी को कष्ट न देना अहिंसा, प्राणिमात्र को ईश्वर का अंश समझकर किसी प्रकार भी कष्ट न देना अहिंसा है।

२) सत्य- मन, कर्म और वचन से सत्य का पालन करना सत्य है।

३) अस्तेय- किसी भी वस्तु को उसके धारक की अनुमति के बिना स्वेच्छामात्र से ग्रहण न करना अस्तेय अर्थात् चोरी न करना है।

४) ब्रह्मचर्य- मन, कर्म, वचन से वीर्य की रक्षा करना, समाज या विधि के विपरीत यौन सम्बन्ध से दूर रहना तथा समाज के तथा विधि के अनुरुप ही यौन सम्बन्धों की पूर्ति करना ब्रह्मचर्य है।

५) अपरिग्रह- मन, कर्म या वचन से विषयोपभोग के लिए पदार्थो का अधिक सग्रंह न करना अपरिग्रह है।

६) ऋत और सत्य की सत्ता - वैदिक साहित्य में सृष्टि के नियमों का विचार करते हुए निश्चित नियमों का निर्देश किया है। सृष्टि प्रक्रिया कुछ नियमों से बंधी हुई है, इसी नियमबद्धता को वेदों में ऋत संज्ञा से अभिहित किया गया है। यही ऋततत्व पृथ्वी या संसार को धारण किए हुए है, ऋत वे नियम हैं जो नित्य और अनादि हैं, कोई भी शक्ति उनका उल्लंघन नही कर सकती। यथा-सूर्य आदि सभी ग्रह नियमित रुप में अपनी परिधि में परिभ्रमण कर रहे हैं, इस नियम में वर्षो से कोई विराम या परिवर्तन नही हुआ। तारा नक्षत्र आदि अपने अपने स्थान पर रहते हुए संचारी दशा में घूमते रहते हैं, समय पर फल और वनस्पति आदि पकते हैं, प्रकृति के साथ प्राणियों और मनुष्यों के जीवन का आधार भी ऋत नियमों पर ही निर्भर है। मनुष्य का कल्याण इसी बात में है कि वह ऋत के इन नियमों का परिज्ञान कर उनके साथ अपने जीवन की सानुकूलता स्थापित कर ले। इसी ऋत तत्व से सत्य का प्रादुर्भाव हुआ तथा प्राचीन भारतीय मनीषियों ने यह सिद्धान्त

प्रतिपादित किया कि सत्य ही धर्म का आधार है और सत्य का अनुसरण करने से ही मनुष्य का कल्याण सम्भव है। संसार में जो नियम और व्यवस्था दृष्टिगोचर हो रही है, वह सत्य पर ही आधारित है।

जिसका पालन करने से संसार में मनुष्य का अभ्युदय तथा परलोक में निःश्रेयस् या मोक्ष की प्राप्ति सम्भव है वही धर्म की परिभाषा है, किन्तु यह धर्म वेद शास्त्रादि विहित होना चाहिए। मनुष्यादि साधारण प्राणियों द्वारा रचित धर्म मान्य नहीं हो सकता। मनुष्य अपनी इच्छा एवं विवेक का प्रयोग कर धर्म का निर्माण नही कर सकता क्योंकि धर्म सत्य पर आधारित होता है और ये सत्य के प्राकृतिक एवं अनादि नियम है, जो मनुष्य द्वारा रचित नही है। ऋत और सत्य के ये नियम भारतीयों के धार्मिक जीवन को सदा अनुशासन में रखते आये है।

७) **कर्मफल** -- प्राचीन भारतीय मनीषियों ने मनुष्य जीवन को अधिक प्रभावित करने वाला सिद्धान्त कर्म सिद्धान्त माना है। मनुष्य इस जीवन में जैसा भी पुण्य या पाप कर्म करता है उसी का फल भोगना पड़ता है। कर्म तीन प्रकार है- प्रारब्ध, संचित, क्रियमाण।

प्रारब्ध कर्म :- पूर्व जन्मों के किये गये कर्मो के अनुसार फलस्वरूप हमें अच्छे, मध्यम या नीच कुल में जन्म मिलता है। प्राय: वर्ण या जाति को भी हमारे पूर्व जन्मों के कर्म ही प्रभावित करते है।

संचित कर्म :- मनुष्य को माता-पिता द्वारा अर्जित सम्पत्ति का भोग अपने प्रारम्भ के अनुसार मिलता है। मनुष्य अपने परिश्रम द्वारा जो धन अपने दैनिक जीवन यापन से बचाकर बैंक आदि में जमा कर लेता है उसे किसी सावधिक जमा खाते में डाल देता है तथा अपनी वृद्धावस्था में निर्वाह के लिए रखता है या अपनी सन्तान के लिए छोड़ जाता है, वह संचित धन कहलाता है, इसी प्रकार संचित कर्म भी हमारे इस जन्म तथा भावी जन्म को प्रभावित करते है। मनुष्य सामान्य जीवन यापन के अतिरिक्त अथवा दैनिक कर्त्तव्य निर्वाह से अधिक जो विशेष कृत्यो का निष्पादम करता है, जैसे विशेष अनुष्ठान, पुरश्चरण आदि जिसका फल संचित होकर चिरकाल तक उसके ऐहिक जीवन तथा भावी जन्म को भी प्रभावित करते है।

क्रियमाण कर्म :- मजदूरों या निर्धन व्यक्तियों के उस कर्मो की भाँति है जो सुबह से शाम तक परिश्रम द्वारा जो कमाते है उसी को खाकर रात को निश्चिन्त सो जाते है अथवा जो पूर्वजो की सम्पत्ति का उपभोग कर ऋण भी ले लेते है तथा अधिक ऋण हो जाने पर पूर्वजों द्वारा प्राप्त मकान तथा कृषि की भूमि आदि को भी बेच देते है। ऐसे लोग केवल उदरम्भीर कहलाते है।

प्राचीन आर्य मनीषियों कर मान्यता थी कि मनुष्य को स्वधर्म के पालन में तत्पर रहना चाहिए। अच्छे कृत्यों को सम्पन्न करने वाला व्यक्ति यदि इस जन्म में उसका फल नहीं पाता तो

भावी जन्म में उसे सुकृत्यों या कुकृत्यों का फल अवश्य प्राप्त होता है।

८) **अभयभावना** - वैदिक साहित्य अभयता की भावना से युक्त है यथा -

अभयं करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादभयं नो अस्तु।।
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो मे।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।।

जिस प्रकार प्राचीन आर्यो द्वारा भारतीय संस्कृति में अध्यात्म भावना का प्रवेश हुआ उसी प्रकार उन्होनें अभयभावना को भी प्राप्त किया। जिस प्रकार मनुष्य स्वयं को सबमें तथा स्वयं में सबको देखने लगता है, तथा जिस समय वह सर्वत्र एकत्व की अनुभूति करने लगता है, तब वह अभय अर्थात् भयमुक्त हो जाता है। वह शोक, मोह आदि से ऊपर उठ जाता है। वैदिक ऋषियों की मान्यता है कि मुझे मित्र से अभय प्राप्त हो तथा शत्रु से भी अभय की प्राप्ति हो। ज्ञातवस्तु तथा परिचित व्यक्ति से हमें अभय की प्राप्ति हो, परोक्ष अथवा अपरिचित व्यक्ति से अभय दान मिले। मैं रात दिन में सदा अभय होऊँ और सभी दिशाएं मेरे प्रति मित्र भावना रखे। इस अभय भावना की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब मनुष्य सभी वस्तुओं में एक ही परमपिता परमात्मा की सत्ता की अनुभूति करे और सभी के प्रति एकता का अनुभव कर सके।

९) **मधुर, पवित्र एवं सम्पुष्ट जीवन की कामना**-वेद में जीवन की पवित्रता हेतू भी कामना की गई है।

यत् ते पवित्रमर्चिष्यने विततमन्तरा ब्रह्म तेन पुनीहि नः।
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वाभूतानि पवमानः पुनन्तु माम्।।
पवमानः पुनन्तु मां क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये।।
उभामयां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे।।

हे अग्नि देव पवित्र और विशाल ब्रह्म तेरी ज्वाला में विलसित हो रहा है, हमें उसके द्वारा पवित्र करो। देवजन मेरे विचारों को पवित्र करे और मनुगण मेरे विचारों को पवित्र करे। सभी भूतगण मेरे विचारों को पवित्र करे, पवित्रकारी भगवान मुझे पवित्र करे। पवित्रकारी परमात्मा मुझे पवित्र करे। मेरे भीतर पवित्रता एवं कर्मण्यता का विकास हो। मुझे जीवन और आरोग्य दोनों के द्वारा पवित्र करो। हमें भली भाँति देखकर चलने वाला बनाओ।

वैदिक ऋषियों ने हमारे जीवन में सरसता, पवित्रता एवं सम्पुष्टि की प्राप्ति के लिए अनेक प्रार्थनाएँ की हैं जो परस्पर प्रेम एवं मधुर जीवन में सुख शान्ति के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं।

योग-दर्शन में ईश्वर-प्रणिधान द्वारा 'कैवल्य'

बबलू वेदालंकार
शोध-छात्र, दर्शन विभाग
गु०कु०कां० विश्वविद्यालय

- व्यावहारिक दृष्टि

'योग' गुह्य विद्या है, जिसको महर्षि पतञ्जलि ने अनुशासित करके 'योग-दर्शन' की रचना की है। योग-दर्शन वैदिक षड्दर्शनों की श्रेणी में रखा जा सकता है, जो अपनी व्यावहारिक दृष्टि के कारण अन्य सभी भारतीय दर्शनों से विशिष्ट है। जहाँ चार्वाक दर्शन को छोड़कर सभी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय 'मुक्ति' की बात को सैद्धान्तिक रूप से स्वीकार करते हैं वहीं योग-दर्शन 'मुक्ति' की प्राप्ति के लिए व्यावहारिक मार्ग प्रस्तुत करता है- अभ्यास और वैराग्य-

"**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥**" (यो0सू0 1-12)

योग-दर्शनकार ने अभ्यास में अनेक विधियों का वर्णन किया है परन्तु सम्प्रति भौतिकवादी जगत् में समय के अभाव तथा अनेक समस्याओं के कारण प्रायः नहीं अपना पाते, परन्तु महर्षि पतञ्जलि ने एक ओर जहाँ कठोर साधना की व्यवस्था दी है वहीं व्यावहारिक जीवन में बिना किसी अलग समय निकाले व किसी विशेष स्थान के भी 'कैवल्य' प्राप्ति की व्यवस्था दी है, जिसे ईश्वर-प्रणिधान कहा जाता है-

"**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**" (यो0सू0 1-23)

ईश्वर-प्रणिधान के ऊपर दृष्टि डालने से पहले पतञ्जलि द्वारा ईश्वर के लक्षण व गुणों की विवेचना करना आवश्यक प्रतीत होता है। ईश्वर के लक्षणों का वर्णन करते हुए कहा है -

"**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरपामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**"(यो.सू. पाद-5,सू. 24)

अर्थात् क्लेश, कर्म, विपाक और आशय-इन चारों से जो सम्बन्धित नहीं है, जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वही ईश्वर है। पुनः कहा गया है -

"**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।**" (यो0सू0 1-26)

अर्थात् उस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज या ज्ञान निरतिशय है। गुरु के रुप में ईश्वर को कहा गया है-

"**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।**" (यो0सू0 1/26)

अर्थात् वह ईश्वर सबके पूर्वजों का भी गुरु है, क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं ही है।

महर्षि पतञ्जलि ईश्वर का नाम प्रणव बतलाते हैं -

"तस्य वाचकः प्राणवः।" (यो0सू0 1-27)

उपर्युक्त ईश्वर के विवेचन के पीछे महर्षि पतञ्जलि का दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है क्योंकि मानवीय कमजोरी है कि वह एक ऐसी सत्ता को ही समर्पण कर सकता है जो उससे अधिक उच्च हो।

ईश्वर-प्रणिधान उस साधनापद्धति को कहा जाता है जिसमें साधक सम्पूर्ण कर्म-फल, धन-सम्पदा, सुख-दुःख आदि को ईश्वर को समर्पित कर देता है।

यहाँ यह प्रश्न भी उपस्थित होना स्वाभाविक है कि 'क्रिया-योग'[1] में तथा अष्टांग-योग[2] में भी नियमों[3] के अन्तर्गत 'ईश्वर-प्रणिधान' का निर्देश योग-दर्शन में किया गया है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर प्रतीत होता है कि कुछ मानवीय चेतना अपने 'अहंकार' के वशीभूत होकर सब-कुछ प्राप्त करने की कोशिश करती हैं, परन्तु क्रिया-योग में तप, स्वाध्याय करने के बाद भी ईश्वर को समर्पित करना अनिवार्य है क्योंकि व्यक्ति के कठोर तप आदि के करने पर भी क्लेश पैदा होते हैं परन्तु ईश्वर को समर्पित करने पर क्लेश उत्पन्न नहीं होते, यही दृष्टिकोण अष्टांग-योग के विषय में भी है क्योंकि यदि ध्यान भी करते हैं तो भी बन्धन या क्लेश का ही कारण बनता है, जिसका कारण मात्र इतना है कि ध्यान न लगे तो भी क्लेश उत्पन्न होता है और क्योंकि ध्यान में असीम आनन्द की अनुभूति भी होती है, जो राग नामक क्लेश उत्पन्न कर देती है अतः ध्यान कभी ईश्वर को समर्पित करके ही करें।

ईश्वर-प्रणिधान को व्यावहारिक जीवन में किस प्रकार उतारा जाये यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसके केन्द्र में यह शोध-पत्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। यदि हम अपने व्यावहारिक जीवन में देखें तो किसी भी प्रकार का क्लेश हो तो वह हमारी अज्ञानता के कारण ही होता है; क्योंकि जब हम यह समझ लेते हैं कि-यह मेरा है, मैंने किया है, पुत्र मेरा है, पत्नी, बच्चे, पति मेरा है, शरीर मेरा है। जब इस अज्ञानतावश किसी को भी कष्ट होता है, किसी इच्छा के विपरीत कोई कार्य होता है तो हमें क्लेश पैदा होता है। परन्तु ईश्वर प्रणिधान में मात्र यह करना है कि ये धन-सम्पदा, यें सगे-सम्बन्धी, यें शरीर, यें उपलब्धि, ये पद, यें सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर की ही हैं- इस बिन्दु से समर्पण की साधना आरम्भ होती है। जैसे-जैसे हम इस मार्ग में आगे बढ़ते हैं तो सृष्टि के प्रति अज्ञानता के कारण उत्पन्न हुआ मोह नष्ट होने लगता है, संसार में वैराग्य की स्थिति उत्पन्न होने लगती है। सम्पूर्ण सृष्टि ही ईश्वर की लगने लगती है। एक दिन ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि समस्त कार्य के पीछे ईश्वर का हस्तक्षेप पैदा होता अनुभव होने लगता है। सम्पूर्ण सृष्टि में जो भी होता दिखाई पड़ता है वह ईश्वर की लीला या नाटक मात्र रह जाती है

और एक अज्ञानी साधक बन जाता है ज्ञानवान् नाटक का पात्र।

जब सम्पूर्ण सृष्टि नाटक लगने लगती है तो वह उस समय अपने समस्त क्लेश व कर्मों से निवृत्त हो जाता है। जिस प्रकार नाटक में न तो कोई किसी को मारता ही है और न किसी को जीवन ही देता है। अत: न कोई कर्म होता और न कोई फल और न ही पाप-पुण्य होता है। इसे सरल शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति इस तत्त्व-ज्ञान की अवस्था में किसी को मार भी देता है तो कोई पाप नहीं और यदि किसी की सेवा भी करता है तो कोई पुण्य नहीं। जिसे योग-दर्शन में इस प्रकार कहा गया है -

"ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।" (यो0 सू0 4-30)

ईश्वर-प्रणिधान में समर्पण की अगली घटना घटती है कि यह शरीर भी ईश्वर का है, तब आपके चेतन-तत्त्व प्रकृति से निर्मित शरीर को देखता है, उस समय आत्मा का शरीर में रहते हुए भी संयोग समाप्त हो जाता है, क्योंकि अविद्या का नाश हो जाता है। अब जिस शरीर को अपना समझते थे वही ईश्वर का हो जाता है। पतञ्जलि इस संयोग का कारण उक्त अविद्या को ही मानते है -

"तस्य हेतुरविद्या" (यो0सू0 2-24)

अर्थात् आत्मा और शरीर के संयोग का कारण अविद्या है।

योग-दर्शनकार कहते हैं कि अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव हो जाता है, यही 'हान' है, यही चैतन्य का 'कैवल्य' है -

"तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।"(यो0सू0 2-25)

योग-दर्शनकार विवेक ज्ञान के बाद साधक की बुद्धि को सात प्रकार की अन्तिम अवस्था वाली बताते है -

"तस्य सप्तध्धाया प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।" (यो0सू0 2-27)

अर्थात् जो कुछ जानना था जान लिया, जिसका अभाव करना था कर लिया, जो प्राप्त करना था कर लिया, जो भोगना था भोग लिया अदि।

ईश्वर-प्रणिधान की इस अवस्था में जब नरक के पात्र साधक विवेक-ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है उसका विवेक-ज्ञान सर्वथा रहने के कारण धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है -

"प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा
विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥" (यो0सू0 4-29)

अर्थात् जिनका पुरुषों के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, ऐसे गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना 'कैवल्य' है अथवा यों कहिये कि द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही 'कैवल्य' है।

निष्कर्ष रूप में कहें तो ईश्वर-प्रणिधान के माध्यम से व्यावहारिक जीवन में 'कैवल्य' अर्थात् समस्त दु:खों में मुक्ति मिल जाती है। गम्भीरता पूर्वक देखने पर सभी साधनाओं का अन्त ईश्वर-प्रणिधान में ही है जिससे वैराग्य, पर-वैराग्य घटता है और समस्त दु:खों से छुटकारा मिल जाता है।

ईश्वर-प्रणिधान उस प्रक्रिया का नाम है जिसमें सृष्टि की प्रत्येक वस्तु पर अपनी मोहर हटाकर ईश्वर की मोहर लगा देता है अर्थात् ईश्वर के चरणों में समर्पित कर देता है।

सन्दर्भ

1. यो0सू0 2-1
2. यो0सू0 2-29
3. यो0सू0 2-32

दयालु है वह.........................

- महावीर 'नीर' विद्यालंकार

दयालु है वह और दया कर रहा है, जहां में है वह पर नहीं दिख रहा है।।

गगन में जो मोती बिखरे पड़े है,
बिना टेक के जो सितारे जड़े है।
उन्हे देख दिल बस यही कह रहा है,
अजब है, अनोखा, गजब कर रहा है।

बनाया है उसने जो चोला हमारा,
न कैंची चलाई न सुई और धागा।
सभी का अलग है नक्शा उतारा,
गजब का है दर्जी, अजब कर रहा है।

सुबह-शाम उसका लिया नाम जिसने,
जो उसका हुआ है लिया लाभ उसने।
वह देता सभी को, समझ जग न पाता,
ईशारों, ईशारों में सब कर रहा है।

दगा जो करेगा, वह वैसा भरेगा,
जो भूलेगा उसको, भटकता फिरेगा।
गुनाह तो किए, कुछ भला भी तो करले,
उसे भूल कर फिर गुनाह कर रहा है।

कभी फूल बनकर हमें गंध देता,
कभी शूल बनकर हमे बींध देता।
कर्मों, सुकर्मों का खाता खुल है,
यथायोग्य सबको सज़ा दे रहा है।

दयालु है वह..........................

तुझे क्या मिलेगा, किसी से दगाकर,
तेरा क्या बनेगा, उसको भुलाकर।
सम्भलजा, सम्भलजा, अरे चोट खाकर,
तू बहरा न बन, वह कुछ कह रहा है।

समाधी में योगी, उसे ढूंढते हैं।
जंगल में उसका निशां खोजते हैं।
इधर भी नहीं वह, उधर भी नहीं है,
वह सीपी में मोती, बन छिप रहा है।

सिकन्दर भी आए, कलन्दर भी आए,
सभी इस जमीं के अन्दर समाए।
उन्ही का है रोशन सितारा जहाँ में
जो इबादत में उसकी बसर कर रहा है।

सदा न्यायकारी, दयालु, अजन्मा,
गुणागार, अनुपम, सर्वशक्तिमन्ता।
निराकार ईश्वर, निर्विकार भी है,
जो समझा न उसको, वह भटकता रहा है।

कभी 'नीर' तेरी सुनेगा, सुना तो,
कभी उसको अपने दिल से लगा तो।
करीब उसके जो भी गया है जहाँ में
वह उसको मिला है, मिलता रहा है।

डॉ० भद्रसेन: मरीजों के मसीहा

प्रो० वेदव्रत विद्यालंकार
सी-१९८, सर्वोदय एन्क्लेव, नई दिल्ली-१७

डॉ0 भद्रसेन आयुर्वेदालंकार 27 अप्रेल 2005 को सदा के लिए हम से विदा हो गए। प्रोफेसर रामनाथ एवं अन्य मित्रों का आग्रह है कि मैं उनके विषय में कुछ लिखूं। एक तो मेरे जीवन का 94 वां वर्ष चल रहा है, इसलिए कुछ लिख सकना अब कठिन हो गया है, दूसरे वे मेरे छोटे भाई थे और हम लगभग 14 वर्ष गुरुकुल में इकट्ठे रहे थे, इसलिए घनिष्ठ आत्मीयता लिखने में बाधक हो जाती है। फिर भी प्रयास कर रहा हूँ।

डॉ0 भद्रसेन का जीवन बड़ा सफल और सक्रिय रहा, इसलिए उसे समझने के लिए कुछ पृष्ठभूमि को जानना अच्छा रहेगा। हमारे पिता जी लाला चेतराम जी स्यालकोट जिले के (अब पाकिस्तान में है) एक सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त महाजन परिवार में पैदा हुए थे। उनकी प्रकृति में प्रारम्भ से विशेषता थी कि वे जिस वातावरण में रहते थे या जिस बात को पकड़ते थे, उसमें पराकाष्ठा कर जाते थे। प्रारम्भिक जीवन खेल-कूद में और कुछ भोग-विलास में व्यतीत हुआ। एक दफा वे स्यालकोट में किसी आर्यसमाजी सम्मेलन में कुतूहलवश चले गए। वहाँ स्वामी श्रद्धानन्द जी व अन्य कुछ महानुभावों के भाषणों से ऐसे प्रभावित हुए कि आर्यसमाजी बन गए। फिर क्या था? उन्होंने इलाके में धूम मचा दी। अछूतोद्धार के लिए अपने घर और कारोबार में सब नौकर एवं कर्मचारी मेघ जाति के रख लिए। अपने सब बच्चों को शिक्षा के लिए गुरुकुल, डी.ए.वी. स्कूल, कन्या महाविद्यालय जालन्धर में भेजने का फैसला कर लिया। सम्बन्धियों, बिरादरी एवं समस्त परम्परावादी पौराणिक समाज में शोर मच गया। पिता जी ने किसी की परवाह नहीं की। तीन भाईयों को गुरुकुल कांगड़ी में स्वामी श्रद्धानन्द जी के सुपूर्द कर दिया। इस ख्याल से कि यदि वे न रहे तो पीछे कौन पढ़ायेगा।, हम तीनों की 14 साल की इकट्ठी फीस जमा करा दी। सन् 1921 में महात्मा गान्धी जी के प्रथम असहयोग आन्दोलन में वे जेल चले गए, परन्तु हमारी पढ़ाई निर्बाध जारी रही। अब वैसे आर्यसमाजी कहाँ मिलते है?

सन् 1920 में मैं और भद्रसेन गुरुकुल कांगड़ी में दाखिल हुए। कुछ अरसे बाद मैंने अनुभव किया कि भद्रसेन के व्यक्तित्त्व का ठीक विकास नहीं हो रहा है। कुछ साल बाद वे एक कक्षा नीचे हो गये। उनका विकास ऐसा निखर कर सामने आया कि आश्चर्य हुआ। दरअसल दो भाईयों व बहिनों को इकट्ठे कहीं पर पढ़ने नहीं डालना चाहिए। जब भद्रसेन महाविद्यालय सतह पर पहुँचे तब वे न केवल अपनी कक्षा में अग्रणी थे; अपितु उनमें नेतृत्व के पैतृक गुण विकसित हो गए थे।

वे आयुर्वेद महाविद्यालय में दाखिल हुए। वहाँ उन्होंने न केवल आयुर्वेद को भली-भांति पढ़ा और समझा, अपितु समस्त आयुर्विज्ञान को जानना चाहा। ग्रीष्मावकाश में लाहौर जाकर वे प्रसिद्ध चक्षुरोग विशेषज्ञ एवं प्रसिद्ध सर गंगाराम हॉस्पिटल के संचालक डॉ0 कौल और प्रसिद्ध सर्जन, डॉ0 रोशनलाल खेड़ा के सहायक बनकर आयुर्विज्ञान का समग्र ज्ञान प्राप्त करते रहे।

आयुर्वेद की उपाधि प्राप्त करने के बाद वे गुरुकुल, इन्द्रप्रस्थ में चिकित्सक के रूप में काम करते रहे। विद्यार्थियों के अलावा आसपास के इलाके में भी उनकी चिकित्सा की चर्चा फैल गई।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध दानवीर श्री दीवानचन्द जी ने अपने जन्मस्थान सैदपुर में (अब पाकिस्तान में) एक चिकित्सालय खोला था। उनके पीछे उनकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी सतभ्रामा देवी ने आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब से आग्रह किया कि किसी योग्य डॉक्टर को वहाँ नियुक्त किया जाये। सभा ने डॉ0 भद्रसेन को इस काम के लिए चुना। इन्होंने वहाँ सात साल तक न केवल प्रमुख चिकित्सक का काम किया, अपितु आर्यसमाज के प्रति सम्मान की भावना इलाके में पैदा की। दीवान चन्द ट्रस्ट वाले अब दिल्ली के पास एक अच्छा हस्पताल बना रहे है। डॉ0 भद्रसेन की सेवाओं का ध्यान में रखते हुए वे वहाँ एक बड़ा गेट उनकी स्मृति में बनाने का विचार कर रहे है।

परिवार की योजना के अनुसार डॉ0 भद्रसेन ने सर्विस छोड़कर अपने कस्बे में काम करना प्रारम्भ किया। यहाँ भी उन्होंने कई चामत्कारिक केस किये, जिनमें कुछ सफल ऑपरेशन भी शामिल थे। शीघ्र वे लोकप्रिय डॉक्टर बन गए और इलाके में उनकी धूम मच गई। देश विभाजन के बाद पिता जी ने रिफ्यूजी बनकर हिन्दुस्तान जाने से इन्कार कर दिया, तो डॉ0 भद्रसेन बड़ी दुविधा में पड़ गए। पिता जी को छोड़कर वे कैसे निकलें? जब सारा इलाका हिन्दू-सिखों से खाली हो गया तो पिताजी से आग्रह करके डॉ0 भद्रसेन और उनके परिवार को स्थानीय मुसलमानो की सहायता से निकाला। हमारे नानके हमारे कस्बे से लगभग 10 मील दूर सीमा की भारतीय तरफ थे। मुसलमान अंगरक्षक डॉ0 साहिब को वहाँ पहुँचा गए। हमारे पिता जी के पाकिस्तान में रहने और फिर वहां से निकलने की बड़ी मनोरंजक और लम्बी कहानी है, जिसे मैं यहाँ नहीं लिख रहा हूँ।

दिल्ली आकर डॉ0 भद्रसेन ने दरियागंज में सुभाष मार्ग पर प्रैक्टिस प्रारम्भ की और शीघ्र ही अनेक उनके................ मरीज बन गए। उनके निधन पर अनेक लोगों ने उनकी चामत्कारिक चिकित्सा के किस्से सुनाये। उनकी चिकित्सापद्धति की विशेषता मैं यहाँ संक्षेप से ही लिखूंगा। पहली बात उनकी मरीज और उसके परिवार के साथ आत्मीयता थी, जिससे मरीज़ का उनमें विश्वास सुदृढ़ हो जाता था। वे उन डॉक्टरों में से नहीं थे जो चलाऊ ढंग से मरीज को देखकर बाजारी पेटैंट नुस्खा लिख देते है। मरीज को उनके पास आते ही विश्वास हो जाता था।

दूसरी बड़ी विशेषता यह थी कि उनका निदान बड़ा ठीक होता था। वे कुछ समय मरीज

को देखने में और उसकी बात को समझने में लगाते थे। क्योंकि वे स्वाध्यायशील थे। उन्हें आयुर्वेद के अलावा पाश्चात्य पद्धति होमियोपैथी, बायोकैमिस्ट्री, प्राकृतिक चिकित्सा, एकूपंक्चर आयुर्विज्ञान का अच्छा ज्ञान था, जो मरीज को अच्छा करने में बहुत काम आता था।

तीसरी बात यह थी कि वे अपने मरीजों से व्यक्तिगत संबन्ध रखते थे और उनका पूरा ध्यान रखते थे। दोपहर के खाली समय में जब वे दौरे पर निकलते थे तो रास्ते में पड़ने वाले अपने मरीजों के परिवारों को देखने और मिलने जाते थे। उनके मरीज भी उनकी बड़ी इज्जत करते थे, जैसा कि उनके निधन पर देखने में आया।

अन्त में एक बात जिसकी वे मेरे साथ अक्सर चर्चा किया करते थे, यहाँ उल्लिखित करना चाहता हूँ ....

जैसा कि सर्वविदित है, स्वामी श्रद्धानन्द जी (पहले महात्मा मुंशी राम) ने भारतीयों में देशभक्ति की भावना उत्पन्न करने और विद्यार्थियों को पाश्चात्य शिक्षा से बचाकर प्राचीन भारतीय वातावरण में शिक्षित करने के लिए गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की थी। सरकार ने आर्थिक सहायता आदि अनेक प्रलोभनो द्वारा स्वामी ज़ी को विचलित करना चाहा, परन्तु वे डगमगाये नहीं। विद्यार्थियों के संरक्षक माता-पिता जानते थे कि उनके बच्चों को स्नातक बनकर निकलने के बाद सरकारी नौकरी आदि नहीं मिलेगी। उनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित या-गुरुकुलों में अध्यापन, प्रचारक बनना, पत्रकारिता, वैद्यक, इत्यादि ....देश विभाजन के बाद जब डॉ0 भद्रसेन दिल्ली आये तो उन्होंने देखा कि सरकारी कॉलेजों से निकले डॉक्टरों द्वारा अन्य चिकित्सा पद्धति बालों के विरुद्ध प्रयत्न हो रहा है कि उन्हें नीमहकीम मान कर प्रैक्टिस न करने दी जाये। डॉ0 भद्रसेन तबियत से संघर्ष करने वाले थे। उन्होंने अपने जैसे डॉक्टरों की स्वीक्रियता के लिए संघर्ष किया, अधिकारियों से मिले, समाचार-पत्रों में लिखा, अपने साथियों के संगठन बनाये। आखिर सफलता मिली।

वे कहा करते थे कि हमें नहीं मालूम था कि जिस स्वतन्त्रता के लिए हम लोगों ने इतने कष्ट उठायें, उसके मिलने के बाद भी हम अपने स्वतन्त्र देश में सेकेण्ड क्लास नागरिक माने जायेगे। यह भावना हम सब में है। हमारा शासन-तन्त्र अब भी पराधीनता की हीन भावना से ग्रसित है। खैर, यह एक लम्बा विषय है।

डॉ0 भद्रसेन के मन में यह परेशानी अन्त तक रही। परिवार की दृष्टि से डॉ0 भद्रसेन बड़े खुशकिस्मत रहे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सावित्री देवी एक धर्मपरायण आर्यसमाजी परिवार से हैं। उनका लड़का अमेरिका में सफल और विख्यात डॉक्टर है। वह आजकल यूनाईटेड नेशन्स संगठन में उच्च पद पर आसीन है। लड़की डॉ0 सुमन और दामाद डॉ0 अशोक कौशिक एम.बी. बी.एस. एवं एम.डी. (इंग्लैन्ड से) हैं और दिल्ली में प्रैक्टिस कर रहे है। बीमारी के बाद डॉक्टर साहिब उन्हीं के पास और उन्हीं की देखरेख में रहे। छोटी लड़की शरद् न्यूयार्क में न्यूयार्क टाइम्स में काम कर रही है।

उनके देहावसान पर जब मैं उन्हें देखने गया तो मैंने उनके पैरों में नमस्कार किया। मेरे पौत्र ने कुतूहलवश मुझसे पूछा कि आप इनसे बड़े थे, फिर आपने पैर क्यों छुये? मैंने कहा; बेटा जो चला जाता है, जिसने अब लौटकर नहीं आना है वह बड़ा हो जाता है और श्रद्धांजलि का पात्र हो जाता है।

गुरुकुल से गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय तक

कुलभूषण शर्मा
पुस्तकालय विभाग
गु०का०वि०वि०, हरिद्वार

हरिद्वार, 19 सदी भारत में शिक्षा जगत के लिए एक महत्तवपूर्ण उपलब्धियों से परिपूर्ण समय था। इस समय के महान् समाज सुधारक स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने आर्दशों व संस्कृति को जिन्दा रखने के लिए आर्य समाज की स्थापना की थी जिसमें सभी को समान शिक्षा देने कि व्यावस्था थी चाहे वह राजा का पुत्र हो या फिर किसी साधारण परिवार का दैनिक शिक्षा के साथ साथ सभी को ज्योतिष, भूगोल, यन्त्रकला, चिकित्सा शास्त्र, भूगर्भ, शिल्प विद्या का अभ्यास कराया जाना अनिवार्य किया गया। सदी के अन्त में कुछ लोगों के मन में यह विचार आया कि स्वामी दयानन्द कि शिक्षा प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए। महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के प्रयासो सेयह कार्य संभव हो पाया व शिक्षा के क्षेत्र में नई क्रांति का प्रारम्भ हुआ। 1898 के आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में गुरुकुल खोलने की स्वीकृति प्रदान कि गई। इसके बाद गुरुकुल के नियम आदि बनाने के लिए मुन्शीराम जी को अधिकृत किया गया। सर्वप्रथम समस्या यह थी की गुरुकुल को कहा खोला जाये अनेको भूमि दानियों के होने के बावजूद भी मुन्शीराम जी गुरुकुल को गंगा के तट पर खोलना चाहते थे। अन्त में मुन्शी अमन सिंह ने अमन सिंह ने अपना कांगड़ी ग्राम जो हरिद्वार के सामने गंगा के पूर्वोतम पर जिला बिजनौर में स्थित था गुरुकुल के लिए आर्य-प्रतिनिधि सभा को अपनी 1400 बिघा भूमि दान में दे दी। इससे पूर्व 16 मई 1900 को गुजरावला (पाकिस्तान) में गुरुकुल की स्थापना कर दी गई थी। 4 मई 1902 को गुजरावाला से गुरुकुल को कांगड़ी, ग्राम में लाकर स्थापित किया गया। तथा कुछ दिनों बाद गुरुकुल का स्थापना दिवस मनाया गया उस समय गुरुकुल के प्रति लोगो का विशेष प्रेम देखने को मिला जिसका प्रमाणं इस बात से मिलता है कि उस समय गुरुकुल के विकास के लिए तीन हजार रुपये नकद एकत्रित हुए तथा चार वर्षो के अन्दर पच्चीस हजार रुपये की लागत से बाइस पढ़ने के कमरे छात्रों के रहने के लिए अलग से आश्रम में बना दिये गये। गुरुकुल के पहले आचार्य पं0 गंगादत्त जी थे तथा मुन्शी राम जी इसके मुख्याधिष्ठाता (प्रबन्धक) थे।

1917 में मुन्शीराम जी ने गुरुकुल की सेवा करने से मना करने के साथ ही गृहस्थ आश्रम त्याग कर सन्यास ले लिया संन्यासी बनने के बाद इन्हे स्वामी श्रद्धानन्द के नाम से जाना गया। 1919 में भारत में रायल एक्ट के विरोध में आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप गांधी के सत्याग्रह की घोषणा पर हुए सरकार विरोधी आन्दोलनों के परिणाम स्वरूप हुए जलियावाला बाग कांड से प्रेरित हो स्वामी श्रद्धानन्द जी ने भी इस आन्दोलन में बढ़चढ़कर हिस्सा लिया।

1921 का गुरुकुल के इतिहास में बड़ा महत्तवपूर्ण स्थान है इसी वर्ष 22 मार्च 1921 को आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुरुकुल में निम्न महाविद्यालय खोलने की सविकृति प्रदान की।

1. वेद महाविद्यालय, 2. साधारण महाविद्यालय, 3. आयुर्वेद महाविद्यालय, 4. कृषिमहाविद्यालय

तथा इसी वर्ष गुरुकुल को विश्वविद्यालय के रूप में स्थापित करने का प्रस्ताव पास किया गया तथा 1923 में इसकी शिक्षा पटल की स्थापना की गई।

सन् 1924 में असाधारण वर्षा के कारण गंगा में भयंकर बाढ़ आ जाने के कारण गुरुकुल की अधिकांश इमारते नष्ट हो गई जिसके बाद गुरुकुल को हरिद्वार में वर्तमान स्थान पर लाया गया। सन् 1926 में गुरुकुल की रजत जयन्ती मनायी गई जिसमें महात्मागांधी, बाबू राजेन्द्र प्रसाद, पं0 मदनमोहन मालवीय जैसे महान लोगो ने भाग लिया परन्तु 23 दिसम्बर 1926 में इस संस्था के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज की दिल्ली में हत्या कर दी मई सन् 1950 में गुरुकुल की स्वर्ण जयन्ती मनायी गई इस अवसर पर भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ0 राजेन्द्र प्रसाद यहां पधारे और उन्होंने प्रथम बार गुरुकुल के लिए एक लाख रुपये का सरकारी अनुदान दिया।

भारत सरकार ने 19 जून 1962 को गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय को डिम्ड टु बी युनिवर्सिटी का दर्जा प्रदान किया। अपनी निरन्तर गति से प्रगति के पथ पर अग्रसर इस विश्वविद्यालय ने वर्ष 2002 में अपनी शताब्दी मनायी इस अवसर पर भारत सरकार ने विश्वविद्यालय पर एक ड़ाक टिकट जारी किया तत्कालिन कुलाधिपति पं0 हरबन्सलाल शर्मा के नेतृत्व में यह शताब्दी समारोह बड़े हर्षोउलास के साथ मनाया गया जिसमें अनेको अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें अनेको विदेशी से आये विद्वानों ने भाग लिया।

विश्वविद्यालय के वर्तमान कुलपति प्रो0 स्वतन्त्र कुमार ने कुलपति के पद का कार्यभार ग्रहण करने के बाद विश्वविद्यालय के विकास को एक नई दिशा तथा गति प्रदान की आर्य प्रतिनिधि पंजाब के महामंत्री के रूप में किये गये कार्यो का लाभ इन्हें विश्वविद्यालय को प्रगति के पथ पर ले जाने में मिला। इन्होंने अपने कार्यकाल में अनेक नये पाठयक्रम विश्वविद्यालय मे खुलवाये तथा इन्ही के प्रयासों के फलस्वरूप यू0जी0सी0 द्वारा गठित राष्ट्रीय मूल्याकनं एवं प्रत्यायन परिषद् ने विश्वविद्यालय को चार सितारा स्तर देकर गौरग्वित किया।

आज भी यह विश्वविद्यालय देश के अन्य विश्वविद्यालय के साथ निरन्तर प्रगति के पथ की ओर अग्रसर है यह विश्वविद्यालय आज आधुनिक शिक्षा के साथ साथ छात्रों में अपनी प्राचीन संस्कृति व राष्ट्र भावना जगाने का कार्य कर रहा है। यहाँ पर जहाँ छात्रो को प्रौघौगिकी, एम.बी.ए., एम.सी.ए., एम.एस.सी, बी.एससी जैसे वैज्ञानिक विषयों में अध्यापन के साथ शोध कार्य कराये जाते है वही दूसरी तरफ वेद दर्शन, संस्कृत, योग, प्राच्य, ज्योतिष जैसे विषयो में भी छात्रों को अध्ययन व शोध की सुविधा प्राप्त है।

कुलपति प्रो0 स्वतंत्र कुमार के अनुसार विश्वविद्यालय के अनेको छात्र आजविभिन्न तकनीकी क्षेत्रों में कार्य कर देश ही नही विदेशों में भी विश्वविद्यालय का नाम रोशन कर रहे है। विश्वविद्यालय के कुलपति पं0 सुर्दशन शर्मा जी के कुशल निर्देशन में विश्वविद्यालय निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर है यहाँ पर छात्रों को सभी प्रकार के पाठयक्रमों में शोध कार्य करने के लिए सभी संसाधन उपलब्ध कराये जा रहे है तथा यहाँ के छात्र अपने शोध कार्यो में लगें हुए है यहाँ के कुलपति का कहना है कि स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज के सपनो को पूरा करना उनके जीवन का उद्देश्य है जिसे पूरा करने के लिए वह विश्वविद्यालय के सभी शिक्षकेतर व शिक्षक साथियों को साथ लेकर पूरा करने में प्रयासरत है।

प्रतिष्ठित स्नातक वैद्य महेन्द्रनाथ वेदालंकार नहीं रहे

रामनाथ वेदालंकार
वेदमन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार)

वेदों के विद्वान्, गुजराती भाषा में वैदिक साहित्य के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदानप्रदाता, आर्यसमाज संगठन के अग्रणी पं. वैद्य महेन्द्रनाथ जी वेदालंकार का देहावसान दिनांक 16.7.05 शनिवार को वानप्रस्थ साधक आश्रम आर्यवन, रोजड़, जि0 साबरकांठा (गुजरात) में हो गया। अपने 90 वर्ष का दीर्घायुष्य प्राप्त किया। उनका अन्तिम संस्कार शस्त्रोक पूर्ण वैदिक से वानप्रस्थ साधक आश्रम में ही सुसम्पन्न हुआ।

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से आय वेदालंकार उपाधि प्राप्त करके वेदों के विद्वान् बन कर निकले थे। आपने वैदिक लेखन, वेदप्रचार, वैदिक पुस्तकों का गुजराती अनुवाद आदि साहित्य कार्य करके यश प्राप्त किया भी। आयुर्वेद का ज्ञान आपने अपने स्वाध्याय से प्राप्त किया। आयुर्वेद की परीक्षाएं भी उत्तीर्ण की इसमें रोगियों की सेवा मुख्य उद्देश्य था। आप 156/1876, प्रतीक्षा अपार्टमेंन्ट्स सोला रोड़, अहमदाबाद-63 में निवास करते थे।। अहमदाबाद में प्रख्यात आयुर्वेज्ञ चिकिसकों में आपकी गणना थी। अनेक ऐसे रोगी जो अन्य चिकित्सा कराते थक चुके थे, इनकी शरण में आकर स्वस्थ हुए।

आप गुरुकुल सोनगढ़ (सौराष्ट्र) में 12 वर्ष तथा भरुच के शिक्षणालयों में 11 वर्ष शिक्षक रहें। आप राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, भरुच के संस्थापक थे। गुजरात एवं सौराष्ट्र की विभिन्न आर्यसमाजों के आप प्रधान व मंत्री रहे। स्व0 प्राणजीयनदास यमुनादास ट्रस्ट के ट्रस्टी एवं गुजरात प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के सदस्य भी रहे। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में आपके विद्वतापूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे। गुरुकुल में ये मेरे सहकारी थे। अच्छे क्या और हॉकी-फुटबाल के उज्जवल खिलाड़ी थे। पुस्तकालय का सहुप्रयोग करने का भी आपको शौक था।

इनके देहावसान से गुरुकुल का एक यशस्वी स्नातक चला गया है। गुरुकुल-परिवार इनके प्रति श्रद्धाज्जलि तथा इनके परिवार के प्रति संवेदना प्रकाशित करता है। इनके छोटे पुत्र श्री दिनेश जी पर प प्रस्थ साधक आश्रम, आर्यवन, रोजड़ में सतधक तथा समर्पित कार्यकर्ता के रूप में रहते हैं।